

महाकवि श्रीभारविविरचितं

किरातार्जुनीयम्

प्रथमः सर्गः

[भूमिका—अन्वय—व्याख्या—वाच्यपरिवर्त्तन—व्याकरण
—विशेष—हिन्दीभाषादिभिः समलङ्कृतः]

सम्पादयिता

श्रीजगदीशशास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०

आचार्य—शासकीय कला-विज्ञान-महाविद्यालय,
दुर्ग (म० प्र०)

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

बाँकीपुर : : पटना–४

[मूल्य—६४ नये पैसे





भूमिका

(१) भारवि का समय—

(i) सर्वप्रथम भारवि का नाम चालुक्यवंशी नरेश पुलकेशिन् द्वितीय के समय के ऐहोड़-शिलालेख में मिलता है। यह शिलालेख दक्षिण-भारत में बीजापुर जिला के ऐहोड़ नामक गाँव में एक जैन-मन्दिर में मिला है। इसका वह पद्य, जिसमें भारवि का नाम कालिदास के साथ पाया जाता है, इस प्रकार है—

येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्त्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्त्तिः॥

इस शिलालेख का समय शक-संवत् ५५६ (=ई० सन् ६३४) है, जो कि शिला-लेख के निम्नांकित पद्य में दिया है :—

पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतेषु च।
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्॥

(ii) अवन्तिसुन्दरी के रचयिता कवि दण्डी ने कथा के आरम्भ में अपने पूर्वजों का वर्णन करते हुए भारवि को अपने प्रपितामह दामोदर का मित्र बतलाया है; क्योंकि भारवि की सहायता से ही दामोदर चालुक्यवंशी नरेश विष्णुवर्धन की सभा में प्रविष्ट हुए थे। विष्णुवर्धन पुलकेशिन् द्वितीय का अनुज था और वह अपने भाई के अधीन होकर महाराष्ट्र प्रान्त में राज्य किया करता था। विष्णुवर्धन का समय ईसा की सातवीं शती है। अतः विष्णुवर्धन के सभा-पण्डित दामोदर के समकालीन भारवि का समय भी सातवीं शती के आरम्भ में या छठी शती के अन्त में होना चाहिए।

(२) भारवि का जीवन—

कुछ विद्वानों के मतानुसार भारवि महाराष्ट्र के निवासी थे। विदर्भ में एलिचपुर (=अचलपुर) को इनका जन्मस्थान कहते हैं। कुछ अन्य विद्वान् इनका निवास दक्षिण के पश्चिमी घाट में मानते हैं। यद्यपि वर्णन-मात्र से किसी स्थान को किसी का निवास-स्थान मान लेना युक्तियुक्त नहीं हो सकता, तो भी जब कभी कवि किसी स्थान की ओर अपनी विशेष रुचि प्रकट करता है तब सम्भवतः उसका सम्बन्ध उस स्थान से जोड़ना अनिवार्य नहीं तो सङ्गत अवश्य हो सकता है। भारवि का जन्म कहीं भी हुआ हो, किन्तु दक्षिण-भारत के चालुक्यवंशी नरेश विष्णुवर्धन के सभापण्डित होने के नाते इनका दक्षिण-भारत से घनिष्ठ सम्बन्ध स्वतः सिद्ध हो जाता है।

परम्परा चली आई है कि संस्कृत-साहित्य के रचयिता स्वयं अपना परिचय नहीं देते। उसी परम्परा के अनुसार भारवि ने भी अपने जीवन का कहीं परिचय नहीं दिया। भारवि के सम्बन्ध में कुछ पद्य हमें मिलते हैं, जिनसे हम इनके जीवन-सम्बन्धी तत्त्वों से अवगत होते हैं। ऐसे एक पद्य में लिखा है कि भारवि की परीक्षा उज्जयिनी में हुई थी। कहा गया है कि

इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः ।
हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम् ॥

(३) भारवि की शैली —

भारवि का एकमात्र महाकाव्य किरातार्जुनीय है। भारवि ने स्वयं अपनी शैली को 'प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती' कहा है। किरात के चौदहवें सर्ग के तीसरे पद्य में कवि की भाषा के गुणों का विशद वर्णन मिलता है। भारवि कहते हैं—

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः
प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम् ।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां
प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ॥

भारवि के पदविन्यास में अर्थगम्भीरता को व्यक्त करने की उचित क्षमता है। साहित्य में कवियों ने ललित भावों का प्रदर्शन करने के लिए जहाँ माधुर्य गुण को और उग्रभावों की अभिव्यक्ति के लिए ओजगुण को स्थान दिया है, वहाँ सारगर्भित अर्थपूर्ण भावों को प्रकट करने के लिए भारवि ने प्रसादगुण-गुम्फित शब्द-समूह का सन्निवेश करके औचित्य को आश्रय दिया है। विषम, किन्तु उज्ज्वल पदों के प्रयोग ने कवि की शैली को एक नवीन अद्भुतता प्रदान की है, जो कि अन्य साहित्य में उपलब्ध नहीं है। रस-सरोवर को निगूढ और सुरक्षित रखने के हेतु दृढ़, कठोर, किन्तु प्रसन्न शब्दों का उपादान कवि के लिए न केवल सङ्गत, बल्कि आवश्यक भी था। अतएव किरात के प्रख्यात व्याख्याकार मल्लिनाथ ने इनकी शैली को नारिकेलफल सदृश कहा है—

नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥

इस शैली के भीतर प्रच्छन्न गम्भीर भावों की अभिव्यक्ति के लिए ही मल्लिनाथ को 'घण्टापथ' का निर्माण करना पड़ा। व्याख्या के आरम्भ में टीकाकार की इस दिशा में स्वीकारोक्ति इस प्रकार है —

नानानिबन्धविषमैकपदैर्नितान्तं
साशङ्कचङ्क्रमणखिन्नधियामशङ्कम्।
कर्त्तुं प्रवेशमिह भारविकाव्यबन्धे
घण्टापथं कमपि नूतनमातनिष्ये ॥

भारवि की शैली के सम्बन्ध में कीथ ने लिखा है कि 'अपने सर्वोत्तम स्वरूप में उनकी शैली में एक प्रकार की शान्त गरिमा है, जो वस्तुतः आकर्षक है।' श्रीकीथ ने किरात से शान्त गरिमा के कुछ उदाहरण भी उद्धृत किये हैं। प्रथम सर्ग के इन पद्यों को देखिए—

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे
जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः।
न विव्यथे तस्य मनो नहि प्रियं
प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः ॥

—"प्रणाम करके राजा युधिष्ठिर से शत्रु द्वारा जीती गई पृथ्वी के सम्बन्ध में निवेदन करनेवाले उसका मन दोलायमान नहीं हुआ; क्योंकि हितैषी लोग झूठी प्रिय बात कहने की चेष्टा नहीं करते।" इसी प्रकार दुर्योधन की प्रशंसा में कवि की शान्त गम्भीरता प्रकट होती है।

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः
कृतं न वा तेन विजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते
नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम्॥

—"उसने कभी प्रत्यंचा चढ़े हुए अपने धनुष को मारने के लिए नहीं उठाया है; कभी भी उसने अपने चेहरे को क्रोध से विकृत नहीं किया है। उसके गुणों में अनुराग के कारण नृपतिगण उसकी आज्ञा को माला की भाँति सिर पर धारण करते हैं।"

भारवि दीर्घ समासों का प्रयोग नहीं करते; सम्पूर्ण ग्रन्थ की दृष्टि से उनका काव्य विशेष रूप से अस्पष्ट या दुर्बोध नहीं है।

इस चारुता के साथ-साथ शैली का विकृत रूप भी किरात में प्रकट हुआ है। एक पद्य में पहली और तीसरी तथा दूसरी और चौथी पंक्तियाँ समान हैं। एक दूसरे पद्य में चारों समान हैं। एक में लगभग च् और र् का ही प्रयोग किया गया है। दूसरे में केवल स्, श्, य् और ल् वर्ण ही हैं। अन्य पद्यों में प्रत्येक पंक्ति उल्टी ओर से ठीक उसी प्रकार पढ़ी जाती है जैसे आगेवाली पंक्ति; या पूरा पद्य ही उल्टा पढ़े जाने पर अगले पद्य के समान हो जाता है; एक पद्य के तीन अर्थ निकलते हैं। दो में कोई ओष्ठ्य वर्ण नहीं है। अथवा प्रत्येक पद्य सीधी तथा उल्टी ओर से एक ही रूप में पढ़ा जा सकता है। एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा—

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो न नुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्॥

व्याकरण-सम्बन्धी अपनी निपुणता प्रदर्शित करने के फलस्वरूप भी उनकी शैली में कहीं-कहीं जटिलता आ गई है, जिसे भावगाम्भीर्य ने और भी अधिक जटिल बना दिया है।

(४) भारवेरर्थगौरवम्

अल्प शब्दों में विपुल अर्थ के सन्निवेश को 'अर्थगौरव' कहते हैं। कविता के गुणों में 'अर्थगौरव' भी एक गुण है। भारवि का काव्य अर्थगौरव-प्रधान माना गया है। उपदेश तथा शास्त्रीय अनुभवों से परिपूर्ण होने के कारण उनकी कविता गम्भीर बन गई है। शैली ने भी उसे गरिमा का गुण प्रदान किया है। सरल, किन्तु गम्भीर रचना ने उनकी कविता में चार चाँद लगा दिये हैं। भारवि की कविता का वही यथार्थ स्वरूप है, जो भीम की प्रशंसा करते हुए युधिष्ठिर ने उसके भाषण का स्वरूप प्रकट किया है। युधिष्ठिर कहते हैं—

स्फुटता न पदैरपाकृता
नच न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां
नच सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥

अर्थगौरव विषय की गम्भीरता पर आश्रित है। यद्यपि किरातवेषधारी शिव का अर्जुन के साथ युद्ध करना गम्भीर विषय नहीं हो सकता तो भी इस विषय के अन्तर्गत नैतिक सिद्धान्त तथा शास्त्रीय अनुभवों के समावेश ने इस काव्य को मनोरञ्जन का साधन-मात्र ही नहीं, किन्तु उपदेशयुज भी बना दिया है। भारवि की कविता में हम हितवाद और सुखवाद—इन दोनों का समन्वय पाते हैं, जो कि नितान्त दुर्लभ है। (हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।)

जहाँ गम्भीर भावों से भारवि की कविता गौरवान्वित हुई है, वहाँ कोमल भावों से उसमें सरसता का भी सञ्चार हुआ है। गम्भीर तत्त्वों को नीरस होने से रोकने का एकमात्र श्रेय हम भारवि को ही दे सकते हैं। देखिए, युधिष्ठिर की उक्ति को—

सहसा विदधीत न क्रिया-
मविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥

कैसा सरल किन्तु भावगम्भीर है यह शब्द-विन्यास !

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं
हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः ।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं
नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः ॥

सरल किन्तु भावपूर्ण तत्त्व का कैसा अनुपम विश्लेषण किया है कवि ने !

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं
भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।

भावप्रचुर गम्भीर विषयों का समावेश करने के साथ-साथ कवि काव्य के मनोरञ्जन-मात्र उद्देश्य को भी नहीं भूले । प्रकृतिचित्रण में गम्भीरता अपना स्थान मधुरता को देकर कवि को कालिदास के निकटतम लाई है । देखिए, शिशिर ऋतु के आगमन का किस प्रकार स्वागत करते हैं कवि ?

कतिपयसहकारपुष्परम्य-
स्तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्धुवारः ।
सुरभिमुखहिमागमान्तशंसी
समुपययौ शिशिरः स्मरैकबन्धुः ॥

सायंकाल का कैसा मनोहर वर्णन श्रुतिगत हुआ है यहाँ !

मध्यमोपलनिभे लसदंशा-
वेकतश्च्युतिमुपेयुषि भानौ ।
द्यौरुवाह परिवृत्तिविलोलां
हारयष्टिमिव वासरलक्ष्मीम् ॥

(५) भारवि के वृत्त—

भारवि ने किरात में बहुत-से वृत्तों का प्रयोग किया है, किन्तु वंशस्थ वृत्त का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। ठीक भी है; क्योंकि क्षेमेन्द्र के अनुसार राजनीतिक विषयों के वर्णन में वंशस्थ वृत्त सर्वोपयोगी माना गया है।

षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते।

क्षेमेन्द्र ने सुवृत्ततिलक में वंशस्थ वृत्त की प्रशंसा की है; क्योंकि वंशस्थ वृत्त के कारण भारवि की प्रतिभा अधिक चमक उठी है। क्षेमेन्द्र लिखते हैं—

वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता॥

अन्य छन्दों में इन्द्रवज्रा, द्रुतविलम्बित, प्रहर्षिणी, उद्गता, स्वागता, पुष्पिताग्रा, वसन्ततिलका, औपच्छन्दसिक सर्वाधिक प्रयुक्त हुए हैं।

(६) किरातार्जुनीय का कथानक—

द्वैतवन में युधिष्ठिर ने जिस वनेचर को दुर्योधन की शासन-प्रणाली देखने के लिए भेजा था, वह पूरी जानकारी पाकर लौटा। उसने दुर्योधन के शासन की स्तुति की।

तब भीम और द्रौपदी ने युधिष्ठिर को युद्ध करने के लिए उत्तेजित किया, किन्तु उन्होंने वचन का परिपालन करते हुए युद्ध न करना ही उचित समझा। इतने में महर्षि वेदव्यास वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने अर्जुन को पाशुपत अस्त्र पाने के लिए इन्द्रकील गिरि पर तपस्या करने के हेतु भेजा। अर्जुन ने कठोर तपस्या की। अप्सराएँ आईं, किन्तु वे उसे विचलित न कर सकीं। तब इन्द्र स्वयं वह आये और उसे शिव की आराधना करने के लिए कहकर चले गये। अर्जुन ने शिव की आराधना की। शिव उसके तपोबल की परीक्षा करने के लिए किरात का रूप धारण कर इन्द्रकील पर्वत पर आ पहुँचे। उन्होंने एक मानवी सूअर को अर्जुन की ओर भेजा। अर्जुन ने उसपर बाण चलाये और उसी क्षण किरात ने

भी। किरात का बाण सूअर को मारकर पृथ्वी में लुप्त हुआ। अर्जुन का बाण भी सूअर को जा लगा, किन्तु वह बाण लुप्त नहीं हुआ। अर्जुन अपना बाण लेने के लिए सूअर की ओर चले। इधर किरातवेषधारी शिव भी वहाँ आकर उस बाण पर अपना स्वत्व बताने लगे। दोनों में युद्ध छिड़ गया। कभी अर्जुन हार जाते तो कभी शिव। धनुष, तलवार, शिला, वृक्ष आदि युद्ध के उपकरण बने। बाहु-युद्ध और फिर मल्लयुद्ध हुआ। शिव प्रसन्न हुए। वे अपने स्वरूप में प्रकट हुए। अर्जुन ने उनकी अर्चना की। तब शिव ने उसे अमोघ पाशुपत अस्त्र देकर उसके मनोरथ को सफल किया।

किरात के अठारह सर्गों का यह संक्षिप्त कथानक है, जो कि महाभारत के वन-पर्व (अध्याय २७—४१) तथा शिवपुराण (ज्ञानसंहिता, अध्याय ६३—६७) में वर्णित घटनाओं पर आधारित है।

अथ

महाकवि भारविकृते
किरातार्जुनीये
प्रथम सर्गः

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं
प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम् ।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ
युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ॥१॥

अन्वयः—कुरूणाम् अधिपस्य श्रियः पालनीं प्रजासु वृत्तिं वेदितुं यम् अयुङ्क्त वर्णिलिङ्गी सः वनेचरः विदितः द्वैतवने युधिष्ठिरं समाययौ ।

व्याख्या—कुरूणां निवासाः कुरवो जनपदाः तेषाम् अधिपस्य दुर्योधनस्य सम्बन्धिनीं श्रियो राजलक्ष्म्याः पालनीं, पाल्यतेऽनयेति पालनी ताम्, प्रतिष्ठापिकामित्यर्थः, प्रजासु जनेषु विषये, वृत्तिं व्यवहारं वेदितुं ज्ञातुं यं वनेचरम् अयुङ्क्त नियुक्तवान्, वर्णः प्रशस्तिरस्यास्तीति वर्णी ब्रह्मचारी तस्य लिङ्गं चिह्नमस्यास्तीति वर्णिलिङ्गी ब्रह्मचारिवेषवानित्यर्थः। स नियुक्तः वने चरतीति वनेचरः किरातः विदितं वेदनमस्यास्तीति विदितः परवृत्तान्तज्ञानवानित्यर्थः। द्वैतवने द्वैताख्ये तपोवने युधिष्ठिरं धर्मराजं समाययौ सम्प्राप्तः। अस्मिन् सर्गे वंशस्थवृत्तम्। तल्लक्षणम्—'जतौ तु वंशस्थ मुदीरितं जरौ।'

वाच्यपरिवर्त्तनम्—कुरूणाम् अधिपस्य श्रियः पालनीं प्रजासु

वृत्तिं वेदितुं यः अयुज्यत वर्णीलिङ्गिना तेन वनेचरेण विदितेन द्वैतवने युधिष्ठिरः समाययौ ।

व्याकरणम्—कुरूणाम्—कुरूणां निवासाः कुरवो जनपदाः। कुरु+अण्—'तस्य निवासः'। जनपद अर्थ में अण् का लोप। शेषे षष्ठी—कुरुजनपदों की।

श्रियः पालनीम्—कर्मणि षष्ठी, 'कर्तृकर्मणोः कृति'—राज्यलक्ष्मी को स्थिर बनानेवाली, यह वृत्ति का विशेषण है। पालनीम्—पाल्यतेऽनयेति पालनी करणेल्युट्;

पाल्+ल्युट् (=अन)+ङीप्; प्रतिष्ठित या स्थिर करनेवाली।

वर्णीलिङ्गी—वर्ण+इन्=वर्णी, वर्णिनः लिङ्गम् अस्यास्तीति सः।

वनेचरः—वने चरतीति सः, वने+चर्+ट, 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इस सूत्र से सप्तमी का लोप नहीं होता।

विदितः—विदितं ज्ञानम् अस्यास्तीति सः, विदितः+अच्—'अर्शआदिभ्यः अच्।'

द्वैतवने=द्वैताख्ये वने, शोक-मोह से रहित तपोवन में युधिष्ठिरम्—यहाँ पर भी सप्तमी का लोप नहीं हुआ—हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्।

विशेषः— अत्र 'वने वनेचरः' इति द्वयोः स्वरव्यञ्जनसमुदाययोरेकदैवावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासो नामालङ्कारः।

हिन्दी—कुरुजनपदों के स्वामी दुर्योधन की राज्यलक्ष्मी को स्थिर बनानेवाले प्रजासंबंधी व्यवहार को जानने के लिए जिस किरात को युधिष्ठिर ने भेजा था, ब्रह्मचारी के वेष में गुप्त वह किरात समस्त समाचारों का ज्ञान प्राप्त करके युधिष्ठिर के पास द्वैतवन में पहुँचा ॥१॥



कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे
जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः ।
न विव्यथे तस्य मनो नहि प्रियं
प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः ॥२॥

अन्वयः—कृतप्रणामस्य सपत्नेन जितां महीं महीभुजे निवेदयिष्यतः तस्य मनः न विव्यथे । हितैषिणः मृषा प्रियं प्रवक्तुं नहि इच्छन्ति ।

व्याख्या—कृतप्रणामस्य तत्कालोचितत्वात् कृतनमस्कारस्य सपत्नेन रिपुणा दुर्योधनेन जितां स्वायत्तीकृतां महीं महीभुजे युधिष्ठिराय निवेदयिष्यतो ज्ञापयिष्यतः तस्य वनेचरस्य मनो न विव्यथे । हि यस्माद् हितैषिणः हितमिच्छन्तीति ते स्वामिहितार्थिनः पुरुषाः मृषा मिथ्याभूतं प्रियं प्रवक्तुं नेच्छन्ति, अन्यथा कार्यविघातकतया स्वामिद्रोहिणः स्युरिति भावः ।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—कृतप्रणामस्य सपत्नेन जितां महीं महीभुजे निवेदयिष्यतः तस्य मनसा न विव्यथे । हितैषिभिः मृषा प्रियं प्रवक्तुं नहि इष्यते ।

व्याकरणम्—कृतप्रणामस्य—कृतः प्रणामो येन (बहु०) सः, तस्य । महीभुजे—चतुर्थी सम्प्रदाने । क्रियाग्रहणमपि कर्त्तव्यम् । महीं भुङ्क्ते (उपपद तत्पु०) इति महीभुक्, तस्मै ।

निवेदयिष्यतः—नि + विद् + णिच् + लृट् (= शतृ)—लृटः सद्वा ।

हितैषिणः—हित + इष् + इन्, प्र० बहु० ।

विशेषः—अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ।

हितैषिणः मृषा न प्रवदन्ति—सोमदेवसूरि ने नीतिवाक्यामृत में

विनिश्चितः अर्थः यस्याः ताम् बहुव्रीहि समास।

लिखा है—अमौढ्यम्, अमान्द्यम्, अमृषाभाषित्वम् अभ्यूहकत्वम् इति चार-गुणाः।

हिन्दी—प्रणाम करने के उपरान्त शत्रु दुर्योधन के द्वारा विजित राज्य के समाचार बतलाने में उसका मन व्यथित नहीं हुआ। हितेच्छुक व्यक्ति मिथ्या प्रशंसा करना नहीं चाहते ॥२॥

द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो
रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः।
स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं
विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे ॥३॥

अन्वयः—रहसि सः द्विषां विघाताय विधातुम् इच्छतः भूभृतः अनुज्ञाम् अधिगम्य सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थाम् इति वाचम् आददे।

व्याख्या—रहसि एकान्ते स वनेचरो द्विषां शत्रूणां विघाताय विहन्तुमित्यर्थः, विधातुं व्यापारं कर्त्तुम् इच्छतः द्विषो विहन्तुमुद्युक्तज्ञानस्येत्यर्थः। अतएव भूभृतो युधिष्ठिरस्य अनुज्ञाम् अधिगम्य, सुष्ठु भावः सौष्ठवं शब्दसामर्थ्यम्, उदारस्य भावः औदार्यम् अर्थसम्पत्तिः तयोर्द्वन्द्वः सौष्ठवौदार्ये, ते एव विशेषः, तयोर्वा विशेषः तेन शालते शोभत इति सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी ताम्, विनिश्चितार्थो विशेषतः प्रमाणतो निर्णीतार्थामिति वक्ष्यमाणरूपां वाचम् आददे स्वीकृतवान् उवाचेत्यर्थः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—रहसि तेन द्विषां विघाताय विधातुम् इच्छतः भूभृतः अनुज्ञाम् अधिगम्य सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी विनिश्चितार्था इति वाक् आददे।

व्याकरणम्—विघाताय = विहन्तुम्। तुमुन् के अर्थ में भाववाचक

प्राददे = प्राङ् पूर्वक दा

धातु का लिट् आत्मनेपद
प्रथम पुरुष एक० का रूप।
'प्राङो दो ऽनास्यविहरणे'
इस पाणिनि सूत्र से
प्राङ् पूर्वक दा से आत्मनेपद
का विधान है।
विघाताय = विहन्तुम्।
विघात = वि + हन् + घञ्
(अ) [वि हन् अ]। अचो
ञ्णिति से ह के अ को वृद्धि
हो कर, हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु
से ह को घ होकर
एवं च हनस्तोऽचिण्णलोः
से न् को त् होकर रूप
बना : वि हन् अ
वि हान् अ
वि घान् अ
वि घात अ
विघात।
अधिगमम् = अधि उपसर्ग
पूर्वक गम् से ल्यप् हुआ।
सुष्ठु भाव: सौष्ठवम्।

उदारस्य भाव औदार्यम्।
सौष्ठवं च औदार्यं च ...

वर्चनीयाः = वर्च् + अनीयर् (अनीय)।

प्रभवः - प्र + भू। विप्रसम्भ्यो ड्वसंज्ञायाम् से डु प्रत्यय (उ) हुआ। ड् अनुबन्ध के कारण भू के ऊ का लोप हो गया और प्रत्यय का इस से लगाया या: प्रभू उ, प्रभ् उ = प्रभु।

मनोहारि = मनो हर्तुं शीलमस्य इति मनोहारि। सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये इस पाणिनिसूत्र से ताच्छील्यार्थ में णिनि प्रत्यय (इन्) लगा कर रूप बना।

घञ् प्रत्ययान्त प्रयोग किया गया है। 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इस सूत्र से चतुर्थी हुई।

सौष्ठवौदार्य०—सौष्ठवं च औदार्यं चेति सौष्ठवौदार्ये (इतरेतरद्वन्द्व), सौष्ठवौदार्ययोः विशेषः (ष० तत्पु०) इति सौष्ठवौदार्यविशेषः तेन शालते इति सा ताम्।

यहाँ पर 'औदार्य' शब्द को अजादि और अदन्त होने के कारण 'सौष्ठव' से पूर्व आना चाहिए था—'अजाद्यदन्तम्' इस नियम के अनुसार। किन्तु पूर्वनिपात विधायक सूत्र अनित्य होते हैं; क्योंकि पाणिनि ने 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इस सूत्र में 'अल्पाच्तरम्' इस नियम के विरुद्ध 'हेतु' शब्द को पूर्व स्थान नहीं दिया है।

विनिश्चितार्थाम्—विनिश्चितः अर्थः यस्याः (बहु०) सा, ताम्।

विशेष—यहाँ पर 'सौष्ठव' से शब्दवैचित्र्य और 'औदार्य' से अर्थवैचित्र्य का तात्पर्य है। भारवि की शैली के यही दो गुण प्रधान हैं।

हिन्दी—एकान्त में उसने शत्रुओं के नाशार्थ उद्योगशील राजा युधिष्ठिर से आज्ञा को पाकर शब्दवैचित्र्य एवं अर्थ-सम्पत्ति की विशेषताओं से सुशोभित तथा प्रमाणों से निश्चित तत्त्वार्थयुक्त वाणी में कहा ॥३॥

क्रियासु युक्तैर्नृप ! चारचक्षुषो
न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा
हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥४॥

अन्वयः—नृप ! क्रियासु युक्तैः अनुजीविभिः चारचक्षुषः प्रभवः न वञ्चनीयाः। अतः असाधु साधु वा क्षन्तुम् अर्हसि। हितं मनोहारि च वचः दुर्लभम्।

व्याख्या—हे नृप ! क्रियासु कृत्यवस्तुषु युक्तै र्नियुक्तै रनुजीविभि-र्भृत्यैः चारादिभिरित्यर्थः, चरन्तीति चराः, त एव चाराः, त एव चक्षुर्येषां ते चारचक्षुषः प्रभवो निग्रहानुग्रहसमर्थाः स्वामिनो न वञ्चनीया न प्रतारणीयाः। सत्यमेव वक्तव्या इत्यर्थः। असाधु अप्रियं साधु प्रियं वा, मदुक्तमिति शेषः। क्षन्तुं सोढुमर्हसि। कुतः ? हितं पथ्यं मनोहारि प्रियं च वचो दुर्लभम्। अतो मद्वचोऽपि हितत्वादप्रियमपि क्षन्तव्यमित्यर्थः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—नृप ! क्रियासु युक्ता अनुजीविनः चारचक्षुषः प्रभून् न वञ्चयेयुः। अतः असाधु साधु वा क्षन्तुम् अर्ह्यते। हितेन मनोहारिणा च वचसा दुर्लभेन (भूयते)।

व्याकरणम्—चारचक्षुषः—चाराः चक्षूंषि येषां (बहु०) ते। नीतिवाक्यामृत में भी इसी बात का समर्थन किया गया है—'स्वपरमण्डले कार्याकार्यविलोकने चाराश्चक्षूंषि क्षितिपतीनाम्।'

मल्लिनाथ ने उक्त आशय का एक अन्य उद्धरण भी दिया है—

गावः पश्यन्ति गन्धेन वेदैः पश्यन्ति पण्डिताः।
चारैः पश्यन्ति राजानः चक्षुर्भ्यामितरे जनाः॥

विशेष—अर्थान्तरन्यास। इसी अभिप्राय के समर्थन में—

अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।

हिन्दी—राजन् ! काम करने में नियुक्त किये गये नौकरों को अपने स्वामी के साथ कपट व्यवहार नहीं करना चाहिए; क्योंकि वे गुप्त-चर भृत्य स्वामी की आँखें हैं। अतः आप मेरी अप्रिय अथवा प्रिय बात को क्षमा करेंगे। हितकर प्रिय वचन दुर्लभ होता है ॥४॥

प्रधानकर्म गौणकर्म

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं
हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः।

साधु यथा स्यात् तथा, क्रिया विशेषण को कर्म समझो

शास्ते - अदादिगण की
शास धातु के लट् का
प्रथम पुरुष एकवचन। आत्मनेपदि

'श्रु, श्रु, विदिभ्यश्च' अकर्मक धातु

संशृणुते - सम् + श्रु + ते
स्वादिगण की
श्रुवः शृ च से श्रु को शृ
यह आदेश हो जाता है
और श्नु विकरण लगता
है।

हितः = हितम् अस्मात् अस्तीति
हितः। अर्श आदिभ्यो अच्
इस पाणिनि सूत्र से अच्
प्रत्यय होकर रूप बना।

हितात् - आख्यातोपयोगे
से पञ्चमी हुई।

किंसखा = कुत्सितः सखा
इति किंसखा - कर्मधारय
समास। 'किमः क्षेपे' इस
पाणिनि सूत्र से समासान्त
टच् (विधिसूत्र - राजाहः
सखिभ्यष्टच्) का निषेध
होता है।
(तत्पुरुष समास) समानाधिकरण के अर्थ
किम् - निन्दा अर्थ
समास होता

सारथि - नपुंसक में सारथ्य, पु., स्त्री. में सारथी ...

रति = रम् + क्तिन् (ति)

कुर्वते – कृ धातु का आत्मनेपद के लट् प्रथम पुरुष बहुवचन का रूप।

सर्वाः सम्पदः रति

सर्वसम्पदः। कर्मधारय तत्पुरुष समास।

सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रतिं
नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः ॥५॥

अन्वयः—यः अधिपं साधु न शास्ति स किंसखा। यः हितात् न संशृणुते स किंप्रभुः। हि नृपेषु अमात्येषु च अनुकूलेषु सर्वसम्पदः रतिं कुर्वते।

व्याख्या—यः सखाऽमात्यादिः। अधिपं स्वामिनं साधु हितं न शास्ति नोपदिशति स हितानुपदेष्टा कुत्सितः सखा किंसखा दुर्मन्त्रीत्यर्थः। तथा यः प्रभुर्निग्रहानुग्रहसमर्थः स्वामी हिताद् आप्तजनाद् हितोपदेष्टुः सकाशात्, हितमिति शेषः। न संशृणुते स हितमश्रोता प्रभुः किंप्रभुः कुत्सितस्वामी। सर्वथा सचिवेन वक्तव्यं, श्रोतव्यं स्वामिना। एवञ्च राजमन्त्रिणोरैकमत्यं स्यात्। ऐकमत्यस्य फलमाह—सदेति। हि यस्मात् नृपेषु स्वामिषु अमा सह भवा अमात्यास्तेषु च। 'अव्ययात्त्यप्।' अनुकूलेषु परस्परानुरक्तेषु सत्सु सर्वसम्पदः सदा रतिमनुरागं कुर्वते। न जातु जहतीत्यर्थः। अतो मया वक्तव्यं त्वया च श्रोतव्यमिति भावः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—येन अधिपः साधु न शिष्यते तेन किंसखिना (भूयते)। येन हिताः न संश्रूयन्ते तेन किम्प्रभुणा (भूयते)। हि नृपेषु अमात्येषु च अनुकूलेषु सर्वसम्पद्भिः रतिः क्रियते।

व्याकरणम्—किंसखा—'किमः क्षेपे' इस सूत्र से समासान्त टच् का निषेध किया गया है। अन्यथा 'किंसखः' प्रयोग बनता।

कुत्सितः सखा = किंसखा (कर्मधारय)

साधु = हितम्—यह 'शास्ति' क्रिया का प्रधान कर्म है, 'अधिपम्' गौण कर्म है। शास् धातु द्विकर्मक है। हितात् न संशृणुते—यहाँ 'आख्यातोपयोगे' इस सूत्र से अपादान में पञ्चमी का प्रयोग हुआ।

संशृणुते—सं पूर्वक श्रु आत्मनेपद में। यहाँ कर्म विवक्षित नहीं

है, अतः सकर्मक सं + श्रु को भी अकर्मक मान लिया गया है, तभी आत्मनेपद का प्रयोग हुआ है।

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलंकार।

हिन्दी—जो मित्र प्रभु को उचित मंत्रणा नहीं देता, वह योग्य मित्र नहीं है। जो स्वामी मित्र से हित की बात नहीं सुनता वह योग्य स्वामी नहीं है; क्योंकि जब राजा और सचिव सदा परस्पर अनुकूल रहते हैं तब सम्पूर्ण सम्पत्तियाँ उनसे प्रेम करती हैं ॥५॥

निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः
क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः।
तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया
निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम् ॥६॥

अन्वयः—निसर्गदुर्बोधं भूपतीनां चरितं क्व। अबोधविक्लवाः जन्तवः क्व। निगूढतत्त्वं विद्विषां नयवर्त्म यन्मयाऽवेदि अयं तव अनुभावः।

व्याख्या—निसर्गदुर्बोधं स्वभावदुर्ग्रहम्। भूपतीनां चरितं क्व। अबोधविक्लवा अज्ञानोपहता जन्तवः, मादृशाः पामरजना इत्यर्थः। क्व। नोभयं सङ्घटत इत्यर्थः। तथापि निगूढतत्त्वं संवृतयाथार्थ्यं विद्विषां नयवर्त्म षाड्गुण्यप्रयोगः यन्मयाऽवेदि ज्ञातमिति यावत्। अयम् इदं वेदनमित्यर्थः। तव अनुभावः सामर्थ्यम्।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—निसर्गदुर्बोधेन भूपतीनां चरितेन क्व। अबोधविक्लवैः जन्तुभिः क्व। निगूढतत्त्वं विद्विषां नयवर्त्म यद् अहम् अवेदिषम् अनेन तव अनुभावेन (भूयते)।

व्याकरणम्—निसर्गदुर्बोधम्—निसर्गेण दुर्बोधम् (तृ० तत्पु०)

प्रवेदि कर्मणि लुङ्

Passive aorist

विद् धातु कर्मवाच्य लुङ्

प्रथम पुरुष एक०।

तत्त्वं - तद् शब्द से त्व, Nature तस्य भाव: तत्त्वम् मनुष्यस्य भाव: मनुष्यत्वं।

द्वौ कौ महदन्तरं सूचयतः।

निसर्गेण दुर्बोधम् = निसर्ग-दुर्बोधम्। तृतीया तत्पुरुष। दुःखेन प्रयासेन बुध्यते इति दुर्बोधम्।

अबोधविक्लवाः

न बोध इति अबोधः। नञ् तत्पुरुष। अबोधेन विक्लवाः इति अबोधविक्लवाः। तृतीया तत्पुरुष।

प्रणुभावः = प्र + नु + भू + घञ्

निगूढतत्त्वम् = निगूढे तत्त्वे यस्य। बहुव्रीहि।

नस्य वर्त्म

इति नयवर्त्म। षष्ठी तत्पुरुष।

भवतः = आप से।
भवत् पञ्चमी एक०।

नृपासनस्थः = नृपासने तिष्ठतीति नृपासनस्थः। नृपस्य आसनम् इति नृपासनम्। षष्ठी तत्पु०।

वनाधिवासिनः = वनम् अधिवसति इति वनाधिवासी। तस्मात् वनाधिवासिनः।

समीहते = सम् + ईह् + ते। लट् प्र०पु० एक०।

जगत् के लिये जगत् और जगती दोनों ही शब्द हैं।

दुरोदरम् (= जुआ) एव छद्म। कर्म०। दुरोदरछद्मना जिता — इति अस्या तत्पु०। तस्याम् दुरोदर-छद्म जिताम्।

दुर्बोधम्—दुःखेन बुध्यते इति दुर्+बुध्+खल्—'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्।'

अबोधविक्लवाः—न बोधः अबोधः (नञ् तत्पु०), अबोधेन विक्लवाः (तृ० तत्पु०) अबोधविक्लवाः।

क्व—क्व—द्वौ क्वौ महदन्तरं सूचयतः।

निगूढतत्त्वम्—निगूढं तत्त्वं यस्य (बहु०) तत्। नयवर्त्म—नयस्य वर्त्म (ष० तत्पु०), नीति की चालें।

मल्लिनाथ ने 'नयवर्त्म' को 'षाड्गुण्यप्रयोग' समझा है और छः गुणों का निरूपण इस प्रकार किया है—

सन्धिविग्रहयानानि संस्थाप्यासनमेव च।
द्वैधीभावाश्च विज्ञेयाः षड्गुणा नीतिवेदिनाम्॥

अवेदि—विद् लुङ् (कर्मणि) प्र० एक०।

विशेष—तवानुभावः। इसी का समानार्थक पद्य अभिज्ञानशाकुन्तल में—

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः।
सम्भावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्।

हिन्दी—राजाओं का स्वभावतः दुर्ज्ञेय चरित्र कहाँ? अज्ञान से उपहत मुझ-जैसा जड़ व्यक्ति कहाँ? जो मैंने शत्रुओं की रहस्यमय नीति की चालों को समझा वह आपका ही प्रताप है॥६॥

विशङ्कमानो भवतः पराभवं
नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते
नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः॥७॥

अन्वयः—सुयोधनः नृपासनस्थः अपि वनाधिवासिनः भवतः पराभवं विशङ्कमानः दुरोदरच्छद्मजितां जगतीं नयेन जेतुं समीहते।

व्याख्या—सुखेन युध्यते सुयोधनः नृपासनस्थः सिंहासन-स्थोऽपि वनमधिवसतीति वनाधिवासिनो वनस्थात् राज्यभ्रष्टादपीत्यर्थः। भवतस्त्वत्तः पराभवं पराजयं विशङ्कमानः उत्प्रेक्षमाणः सन् दुष्टमुदर-मस्येति दुरोदरं द्यूतम्, तस्य छद्मना मिषेण जितां लब्धां दुर्नयार्जितां जगतीं महीम्, नयेन नीत्या जेतुं वशीकर्त्तुं समीहते व्याप्रियते नतु-दास्ते इत्यर्थः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—सुयोधनेन नृपासनस्थेन वनाधिवासिनः आ-भवतः पराभवं विशङ्कमानेन दुरोदरछद्मजिता जगती नयेन जेतुं समीह्यते।

व्याकरणम्—सुयोधनः—सु+युध्+युच् (=अन)। नृपा-सनस्थः—नृपस्य आसनम् (ष० तत्पु०) नृपासनम्। नृपासने तिस्ठतीति सः (उपपदतत्पु०), तेन।

वनाधिवासिनः—वनम् अधिवसतीति (उपपदतत्पु०) तस्मात्। भवतः—अपादाने पञ्चमी।

दुरोदरच्छद्मजिताम्—दुः (दुष्टम्) उदरम् अस्येति दुरोदरम् (=जुआ)। दुरोदरमेव छद्म (कर्म०), तेन दुरोदरच्छद्मना जिता (तृ० तत्पु०) ताम्।

विशेषः—यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। जुए के कपट से दुर्योधन ने पृथ्वी को जीता है, अतः अब वह उसे नीतिपूर्वक जीतने की कामना कर रहा है। 'नीतिपूर्वक पृथ्वी को जीतना' कार्य के प्रति कपट से पृथ्वी को जीतना कारण है।

हिन्दी—यद्यपि दुर्योधन सिंहासन पर आरूढ़ है और आप वनस्थित अर्थात् राज्यभ्रष्ट हो तो भी वह आपसे पराजय की आशंका करता हुआ जुए के कपट से विजित पृथ्वी को फिर नीति द्वारा जीतने की इच्छा करता है ।।७।।

तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया
तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः ।
समुन्नयन्भूतिमनार्यसङ्गमाद्
वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः ॥८॥

अन्वयः—तथापि जिह्मः सः भवज्जिगीषया गुणसम्पदा शुभ्रं यशः तनोति । भूतिं समुन्नयन् महात्मभिः समम् अनार्यसङ्गमात् विरोधः अपि वरम् ।

व्याख्या—तथाऽपि साशङ्कोऽपि जिह्मो वक्रः वञ्चक इति यावत् । स दुर्योधनो भवज्जिगीषया गुणैर्भवन्तमाक्रमितुमिच्छयेत्यर्थः । गुणसम्पदा दानदाक्षिण्यादिगुणगरिम्णा शुभ्रं यशस्तनोति । भूतिं समुन्नयन् उत्कर्षम् आपादयन् महात्मभिः समम् अनार्यसङ्गमाद् दुर्जनसंसर्गात् विरोधोऽपि वरं मनाक् प्रियः ।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—तथापि जिह्मेन तेन भवज्जिगीषया गुणसम्पदा शुभ्रं यशः तन्यते । भूतिं समुन्नयता महात्मभिः समम् अनार्यसङ्गमात् विरोधेन अपि वरेण (भूयते) ।

व्याकरणम्—जिगीषया—जेतुम् इच्छा जिगीषा, जि+सन् अहेतौ तृतीया । गुणसम्पदा—गुणानां सम्पत् (ष० तत्पु०) गुणसम्पत् तया । समुन्नयन्—सम् उद् नी+शतृ प्र० एक० ।

अनार्यसङ्गमात्—न आर्याः अनार्याः (नञ् तत्पु०), तेषां सङ्गमः (ष० तत्पु०) तस्मात् ।

विशेषः—अर्थान्तरन्यास ।

यहाँ पर काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी है । बलवान् से विरोध इसलिए अच्छा होता है कि वह ऐश्वर्य की अभिवृद्धि करता है । बलवान के साथ विरोध के अच्छा होने में ऐश्वर्य का उन्नायक होना हेतु है । अतः यहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार भी है । 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम् ।'

हिन्दी——आपसे आशंकित भी वह धूर्त्त दुर्योधन गुणों के द्वा[रा] यश का विस्तार कर रहा है। दुर्जनों के साथ संसर्ग की अपेक्षा मह[ा]पुरुषों के साथ विरोध भी अच्छा है; क्योंकि वह ऐश्वर्य का उन्नाय[क] होता है ॥८॥

कृतारिषड्वर्गजयेन मानवी-
मगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना।
विभज्य नक्तन्दिवमस्ततन्द्रिणा
वितन्यते तेन नयेन पौरुषम् ॥९॥

अन्वयः—कृतारिषड्वर्गजयेन अगम्यरूपां मानवीं पदवीं प्रपित्सुना अस्ततन्द्रिणा तेन पौरुषं नक्तन्दिवं विभज्य नयेन वितन्यते।

व्याख्या—षण्णां वर्गः षड्वर्गः। अरीणामन्तः शत्रूणां षड्वर्गो[ऽ]रिषड्वर्गः, तस्य जयः कृतो येन तेन तथोक्तेन विनीतेनेत्यर्थः। विनीताधिकारं प्रजापालनमिति भावः। अगम्यरूपां पुरुषमात्रदुष्प्राप्याम् मनोरिमां मानवीम्, मनूपदिष्टसदाचारक्षुण्णामित्यर्थः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—कृतारिषड्वर्गजयः अगम्यरूपां मानवीं पदवीं प्रपित्सुः अस्ततन्द्रिः स पौरुष नक्तन्दिवं विभज्य न[यः] वितनोति।

व्याकरणम्—कृतारिषड्वर्गजयः—षण्णां वर्गः (ष० तत्पु०) षड्वर्गः; अरीणां षडवर्गः (ष० तत्पु०) अरिषड्वर्गः; कृतः अरिषड्वर्गजय[ः] येन (बहु०) सः, तेन।

शत्रुषड्वर्ग इस प्रकार है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद औ[र] अहंकार।

अगम्यरूपाम्—अतिशयेन अगम्या इति अगम्या+रूपप्। यह[ाँ] प्रशंसा के अर्थ में रूपप् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

पुरुषस्य कर्म पौरुषम्
पुरुष + अण् = [illegible]

अथवा—अगम्यं रूपं यस्याः (बहु०) सा, ताम्। प्रपित्सुना—प्र + पद् + सन् + उ = प्रपत्तुमिच्छुः, प्राप्त करने की इच्छावाला। अस्ततन्द्रिणा—अस्ता तन्द्रिः यस्य (बहु०) सः, तेन। पौरुषम्—पुरुष + अण्, पुरुषस्य कर्म।

नक्तन्दिवम्—नक्तं च दिवा च (द्वन्द्व०)

विशेष—कामक्रोधादि शत्रुवर्ग के विजेता एवं आलस्य-रहित होकर न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करनेवाले राजा का यशस्वी होना स्वाभाविक ही है।

हिन्दी—वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार—इन छः शत्रुओं को जीतकर मनुष्य-मात्र के लिए दुष्प्राप्य मनु के द्वारा उपदिष्ट शासन-पद्धति को पाने की इच्छा रखकर और आलस्य को हटाकर दिन-रात का विभाग करके नीति द्वारा पुरुषार्थ का विस्तार कर रहा है ॥६॥

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः
समानमानान् सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः
कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ॥१०॥

अन्वयः—गतस्मयः सः सन्ततं साधु अनुजीविनः प्रीतियुजः सखीन् इव दर्शयते। सुहृदश्च बन्धुभिः समानमानान् दर्शयते। बन्धुतां कृताधिपत्याम् इव दर्शयते।

व्याख्या—गतस्मयो निरहङ्कारः अतएव स दुर्योधनः सन्ततम् अनारतं साधु सम्यक् अकपटमित्यर्थः। अनुजीविनो भृत्यान्। प्रीतियुजः स्निग्धान् सखीनिव मित्राणीव दर्शयते लोकस्येति शेषः। शोभनं हृदयं येषां तान् सुहृदो मित्राणि च बन्धुभिर्भ्रात्रादिभिः समानमानांस्तुल्यसत्कारान् दर्शयते। बन्धूनां समूहो बन्धुता ताम्। कृतम् आधि-

पत्यं स्वाम्यं यस्यास्तां कृताधिपत्यामिव दर्शयते । बन्धूनधिपतीनि दर्शयतीत्यर्थः । यथा भृत्यादिषु सख्यादिबुद्धिर्जायते लोकस्य तथा ता सम्भावयतीत्यर्थः ।

वाच्यपरिवर्त्तनम्——गतस्मयेन तेन सन्ततं साधु अनुजीवि प्रीतियुजः । सखाय इव दर्श्यन्ते । सुहृदः समानमानाः दर्श्यन्ते बन्धुता कृताधिपत्या इव दर्श्यते ।

व्याकरणम्——गतस्मयः—गतः स्मयो यस्य (बहु०) सः स्मयः=गर्वः । प्रीतियुजः—प्रीत्या युज्यन्ते इति तान् (उपपद तत्पु०) समानमानान् —समानः मानो येषां (बहु०) ते समानमानाः तान् बन्धुताम्—बन्धूनां समूहः बन्धुता, बन्धु+तल्+टाप् , ताम् ।

कृताधिपत्याम्—कृतम् आधिपत्यं यस्याः (बहु०) ताम् । दर्शयते—दृश+णिच्+लट् । प्रेरणार्थ में णिच् का प्रयोग हुआ है ।

विशेष——दुर्योधन की कपटनीति का वर्णन किया है ।

हिन्दी——गर्वरहित होकर दुर्योधन अपने सेवकों के साथ स्निग्ध मित्रों के समान निरन्तर निर्व्याजभाव से व्यवहार करता है; मित्रों के प्रति अपने बन्धुओं के समान आदर दर्शाता है और बन्धुओं के साथ जैसे कि वे राज्याधिकारी हों, बर्ताव करता है ।।१०।।

असक्तमाराधयतो यथायथं
विभज्य भक्त्या समपक्षपातया ।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान्
न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम् ॥११॥

अन्वयः——यथायथं विभज्य समपक्षपातया भक्त्या असक्तम् आराधयतः अस्य त्रिगणः गुणानुरागात् सख्यम् ईयिवान् इव परस्परं न बाधते ।

प्रसन्नम् — प्र+सद्+क्त प्रत्यय
नपुं । प्रसन्नं यथा
स्यात्तथा । क्रियाविशे-
षणम् । सन्नम् तत्र
भवतीति प्रसन्नम्

नेहन्ती - 13.
विभज्य - 11
आराध्यतः - 11

व्याख्या—यथायथं यथास्व विभज्य असङ्कीर्णरूपं विविच्येत्यर्थः। पक्षे पातः पक्षपात आसक्तिविशेषः समस्तुल्यो यस्यां तया समपक्षपातया भक्त्याऽनुरागविशेषेण असक्तम् अनासक्तम् अव्यसनितयेति यावत्, आराधयतः सेवमानस्य अस्य दुर्योधनस्य त्रयाणां धर्मार्थकामानां गणस्त्रिगणस्त्रिवर्गः, गुणानुरागात्तदीयगुणेष्वनुरागात् गुणवदाश्रयलोभादित्यर्थः। सख्यं मैत्रीम् ईयिवान् उपगतवानिवेत्युत्प्रेक्षा। परस्परं न बाधते। समवर्तित्वादस्य धर्मार्थकामाः परस्परानुपमर्देन वर्धन्त इत्यर्थः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—यथायथं विभज्य समपक्षपातया भक्त्या असक्तम् आराधयतः त्रिगणेन गुणानुरागात् सख्यम् ईयुषा इव परस्परं न बाध्यते।

व्याकरणम्—यथायथम्—यथार्थ रूप से (कर्मधारयवद्भावः), समपक्षपातया—समः पक्षपातः यस्यां (बहु०) सा समपक्षपाता तया। त्रिगणः—त्रयाणां गणः (ष० तत्पु०)। गुणानुरागात्—गुणेषु अनुरागः (स० तत्पु०) सः, तस्मात्। ईयिवान्—इ+क्वसु—ईयिवस्, प्र० एक परस्परम्—परं परम्।

विशेष—त्रिगण—धर्म, अर्थ, काम।

त्रिवर्गो धर्म कामार्थैः।

मल्लिनाथ ने इस सम्बन्ध में एक पद्य उद्धृत किया है—

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या
यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः।

हिन्दी—व्यसनपरिहारपूर्वक एवं समदृष्टियुक्त लगन से यथोचित विभाग करके उपयोग में लाते हुए इस दुर्योधन के तीनों वर्ग—धर्म, अर्थ और काम परस्पर संघर्ष नहीं करते, प्रत्युत उसके गुणों के प्रति मुग्ध होकर मित्र सदृश बन जाते हैं ॥११॥

निरत्ययं साम न दानवर्जितं
न भूरि दानं विरहय्य सत्क्रियाम् ।
प्रवर्तते तस्य विशेषशालिनी
गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया ॥१२॥

अन्वयः—तस्य निरत्ययं साम दानवर्जितं न, भूरि दानं सत्क्रिया विरहय्य न, विशेषशालिनी सत्क्रिया गुणानुरोधेन विना न प्रवर्त्तते ।

व्याख्या—तस्य दुर्योधनस्य निरत्ययं निर्बाधम् अमायिकमित्यर्थः । अन्यथा जनानां दुर्ग्रहत्वादिति भावः । साम सान्त्वम् । दानवर्जितं न प्रवर्त्तते । अन्यथा लुब्धाद्यावर्जनस्य शुष्कप्रियैर्वाक्यैर्दुष्करत्वादिति भावः । तथा भूरि प्रभूतं नतु कदाचित् स्वल्पमित्यर्थः । दानं धनत्यागः । सदित्यादरार्थेऽव्ययम् । तस्य क्रियां सत्क्रियां विरहय्य विहाय न प्रवर्त्तते । अनादरे दान वैफल्यादिति भावः । विशेषशालिनी अतिशय योगिनी सत्क्रियाऽऽदरक्रिया गुणानुरोधेन गुणानुरागेण विना न प्रवर्त्तते ।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—तस्य निरत्ययेन साम्ना दानवर्जितेन न, भूरिणा दानेन सत्क्रियां विरहय्य न, विशेषशालिन्या सत्क्रियया गुणानुरोधेन विना न प्रवृत्यते ।

व्याकरणम्—निरत्ययम्—निर्गतः अत्ययः यस्मात् (बहु०) तत् निरत्ययम् । दानवर्जितम्—दानेन वर्जितम् (तृ० तत्पु०) । सत्क्रियाम् – सती चासौ क्रिया चेति सा (कर्म०) ताम् । विरहय्य—वि + रह + णिच् + ल्यप् । विशेषशालिनीम्—विशेषेण शालते इति (उपपद तत्पु०) सा । गुणानुरोधेन—गुणानाम् अनुरोधः (षष्ठी तत्पु०) तेन । विना के योग में तृतीया ।

विशेष—लोभी मनुष्य केवल प्रिय वाक्यों से प्रसन्न नहीं होता है । उसे धन देकर वश में ला सकते हैं । नीतिशास्त्रों में लिखा है कि

वर्जितं - वृजँ, णिच्, क्त

प्र + वृत्,

वाञ्छन् - वाञ्छ् - ल्युट् प्रत्यय
निवृत्त - नि - वृत् - क्त
उपदिष्टेन - उप - दिश् - क्त,

निहन्ति = नि, हन्, लट् लकार, प्र॰ पु॰, एक॰ व॰,

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् साधुमञ्जलि कर्मणा ।
मूर्खं छन्दानुरोधेन तत्त्वार्थेन च पण्डितम् ॥

यहाँ एकावली अलंकार है। मल्लिनाथ लिखते हैं—

"अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणतया स्थापनाद् एकावल्यलङ्कारः। तदुक्तं काव्यप्रकाशे—

स्थाप्यतेऽपोह्यते वाऽपि यथापूर्वं परं परम् ।
विशेषणतया वस्तु यत्र सैकावली द्विधा ॥

हिन्दी—उस दुर्योधन का निष्कपट साम विना दान के नहीं होता। अधिक मात्रा में किया गया दान विना सत्कार के नहीं होता और उसका विशेष सत्कार गुणानुराग के विना नहीं होता ॥१२॥

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना
स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः ।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा
निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम् ॥१३॥

अन्वयः—वशी सः वसूनि वाञ्छन् न, मन्युना न, निवृत्तकारणः स्वधर्म इत्येव; गुरूपदिष्टेन दण्डेन रिपौ सुतेऽपि वा धर्मविप्लवं निहन्ति ।

व्याख्या—वशी स दुर्योधनो वसूनि धनानि वाञ्छन् न। लोभान्नेत्यर्थः। निहन्तीति शेषः। तथा मन्युना कोपेन नच। किन्तु निवृत्तकारणो निवृत्तलोभादिनिमित्तः सन् स्वधर्म इत्येव। स्वस्य राज्ञः सतो ममायं धर्मो ममेदं कर्त्तव्यमित्यस्मादेव हेतोरित्यर्थः। गुरूपदिष्टेन प्राड्विवाकोपदिष्टेन दण्डेन दमेन शिक्षयेत्यर्थः। रिपौ सुतेऽपि वा। स्थितमिति शेषः। एतेनास्य समदर्शित्वमुक्तम्। धर्मविप्लवं धर्मव्यतिक्रमम्। अधर्ममिति यावत् निहन्ति निवारयति। दुष्ट एवास्य शत्रुः शिष्ट एव बन्धुर्नतु सम्बन्धनिबन्धनः पक्षपातोऽस्तीत्यर्थः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—वशिना तेन वसूनि वाञ्छता न, मन्युना न, निवृत्तकारणेन स्वधर्म इत्येव। गुरूपदिष्टेन दण्डेन रिपौ सुतेऽपि वा धर्मविप्लवः निहन्यते।

व्याकरणम्—वाञ्छन् न=अवाञ्छन्—न चाहता हुआ। मन्युना=कोपेन। स्वधर्मः—स्वस्य धर्मः (ष० तत्पु०)। स्वधर्मः इति—इति के योग में प्रथमा "निपाते नाभिहिते कर्मणि प्रथमा" इस नियम के अनुसार। निवृत्तकारणः—निवृत्तं कारणं यस्य (बहु०) सः। गुरूपदिष्टेन—गुरुणा उपदिष्टः (तृ० तत्पु०) गुरूपदिष्टः तेन धर्मविप्लवम्—धर्मस्य विप्लवः (ष० तत्पु०) तम्। धर्मविप्लव=अधर्म। निहन्ति—हटाता है।

विशेष—वह कर्त्तव्यबुद्धि से दण्ड का प्रयोग करता है। दुष्टजन उसका शत्रु है, सज्जन उसका मित्र है।

स्मृतिशास्त्रों के अनुसार दण्ड्य व्यक्ति को ही दण्ड देना चाहिए, अन्यथा पाप लगेगा और वह अपराधी राजा नरक को जायगा।

हिन्दी—जितेन्द्रिय वह न तो धन के लोभ से, न क्रोध से किसी को दण्ड देता है, किन्तु लोभ-क्रोधादि कारणों से निवृत्त होकर और अपना धर्म समझकर गुरुजनों द्वारा उपदिष्ट दण्ड से शत्रु अथवा पुत्र में अधर्म को शान्त करता है ॥१३॥

विधाय रक्षान् परितः परेतरा-
नशङ्किताकारमुपैति शङ्कितः।
क्रियाऽपवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः
कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः ॥१४॥

अन्वयः—शङ्कितः परितः परेतरान् रक्षान् विधाय अशङ्किताकारम् उपैति। क्रियाऽपवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः सम्पदः अस्य कृतज्ञतां वदन्ति।

विधाय - वि, धा, ल्यप्

अशंकितकार -

उपैति - उप, इ√ प्र०, पु०, एक व० लट्लकार

सत्कृता - सत्, अस्√ का शतृन्त रूप, कृ√
क्त, टाप्,

कृतज्ञता - कृतं जानाति इति कृतज्ञः
कृत - ज्ञा√, क तल् (भावार्थे तल्) टाप्



व्याख्या—शङ्का सञ्जाताऽस्य शङ्कितोऽविश्वस्तः सन् परितः सर्वत्र स्वपरमण्डले परेतरान् आत्मीयान् अवञ्चकानिति यावत्। यद्वा परा-नितरयन्ति भेदेनात्मसात्कुर्वन्तीति परेतराः, तान् रक्षन्तीति रक्षान् रक्षकान्, मन्त्रगुप्तिसमर्थानित्यर्थः। विधाय कृत्वा, नियुज्येत्यर्थः। अशङ्किताकारम् उपैति। स्वयम् अविश्वस्तोऽपि विश्वस्तवदेव व्यवहरन् परमुखेनैव परान् भिनत्तीत्यर्थः। नच तान् रक्षान् उपेक्षते येन तेऽपि कुर्वीरन्नित्याह क्रियेति। क्रियाऽपवर्गेषु कर्मसमाप्तिष्वनुजीविसात्कृता भृत्याधीनाः कृताः। अपरावर्तितया दत्ता इत्यर्थः। सम्पदोऽस्य राज्ञः कृतज्ञतामुपकारित्वं वदन्ति। प्रीतिदानैरेवास्य कृतज्ञत्वं प्रकाश्यते नतु वाङ्मात्रेणेत्यर्थः। कृतज्ञे राजनि अनुजीविनोऽनुरज्यन्तेऽनुरक्तश्च तं रक्षन्तीति भावः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—शङ्कितेन परितः परेतरान् रक्षान् विधाय अशङ्किताकारः उपेयते। क्रियाऽपवर्गेष्वनुजीविसात्कृताभिः सम्पद्भिः अस्य कृतज्ञता उद्यते।

व्याकरणम्—परेतरान्—परेभ्यः इतरे (पञ्चमी तत्पु०) अथवा—परः इतरः येभ्यः (बहु०) ते। अथवा परान् इतरयन्ति इति (उपपद-तत्पु०)। अशङ्किताकारम्—अशङ्कितः = न शङ्कितः (नञ् तत्पु०)। शङ्का सञ्जाताऽस्येति शङ्कितः—शङ्का + इतच्। अशङ्कितस्य आकारः (ष० तत्पु०) तद् यथा स्यात्तथा, क्रियाविशेषणम्। क्रियापवर्गेषु—क्रियाया अप-वर्गः (ष० तत्पु०) क्रियापवर्गः तेषु, भावलक्षणा सप्तमी (= सतिसप्तमी)। अनुजीविसात्कृताः = अनुजीविसात् कृताः। ये दो अलग शब्द हैं। अनुजीविसात् = अनुजीव्यधीन। कृतज्ञताम्—कृतं जानातीति कृतज्ञः (उपपद तत्पु०), तस्य भावः कृतज्ञता (कृतज्ञ + तल्) ताम्।

विशेष—कृतज्ञ राजा से अनुजीविवर्ग प्रसन्न रहता है और प्रसन्न होकर राजा की रक्षा करता है। "कृतज्ञे राजनि अनुजीविनः अनुरज्यन्ते, अनुरक्ताश्च तं रक्षन्तीति भावः।"

हिन्दी—आत्मीय जनों को सर्वत्र अधिकार कार्य देकर स... विश्वास न करता हुआ भी निश्शङ्कता का भाव प्रदर्शित करता है... कार्य पूर्ण होने के बाद सेवकों को वितीर्ण की गई सम्पत्तियाँ इस... कृतज्ञता को प्रकट करती हैं ॥१४॥

अनारतं तेन पदेषु लम्भिता
विभज्य सम्यग्विनियोगसत्क्रियाः ।
फलन्त्युपायाः परिबृंहितायती—
रुपेत्य संघर्षमिवार्थसम्पदः ॥१५॥

अन्वयः—तेन पदेषु सम्यक् विभज्य लम्भिताः विनियो... सत्क्रियाः उपायाः संघर्षम् उपेत्य इव परिबृंहितायतीः अर्थसम्प... अनारतं फलन्ति ।

व्याख्या—तेन राज्ञा पदेषूपादेयवस्तुषु सम्यगसङ्कीर्णम् अव्या... च विभज्य विविच्य विनियोग एव सत्क्रियाऽनुग्रहः सत्कार इति याव... येषां ते, लम्भिताः स्थानेषु सम्यक् प्रयुक्ता इत्यर्थः । उपायाः समादयः सङ्घर्षं परस्परस्पर्धाम् उपेत्येव इत्युत्प्रेक्षा । परिबृंहितायतीः प्राचु... त्तरकालाः स्थिरा इत्यर्थः । अर्थसम्पदः अनारतम् अजस्रं फलन्ति प्र... वत इत्यर्थः ।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—तेन पदेषु सम्यक् विभज्य लम्भितैः वि... योगसत्क्रियैः उपायैः सङ्घर्षम् उपेत्य इव परिबृंहितायतयः अर्थसम्प... अनारतं फल्यन्ते ।

व्याकरणम्—लम्भिताः—लभ् + णिच् + क्त । विनियो... सत्क्रियाः—विनियोग एव सत्क्रियाः येषां (बहु०) ते । उपेत्य—उप... इ + क्त्वा = ल्यप् । परिबृंहितायतीः—परिबृंहिता आयतिः या... (बहु०) ताः । अर्थसम्पदः—अर्थानां सम्पदः (ष० तत्पु०) ।



विशेष—पद = उपायवस्तु। उपाय चार हैं—साम, दान, दण्ड, भेद। आयति = स्थितिकाल। परिबृंहित = विस्तृत। परिबृंहितायतीः—जिनका स्थितिकाल विस्तृत है, अर्थात् स्थिर।

हिन्दी—यथायोग्य स्थानों में सम्यक् विभागपूर्वक प्रयुक्त तथा ऐसा करने से सत्कृत चारों उपाय—साम, दान, दण्ड, भेद—एक-दूसरे से स्पर्धा करते हुए उसको चिरस्थायी धनराशि का सतत प्रसव करते हैं ॥१५॥

अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलं
तदीयमास्थाननिकेतनाजिरम्।
नयन्त्ययुग्मच्छदगन्धिरार्द्रतां
भृशं नृपोपायनदन्तिनां मदः ॥१६॥

अन्वयः—अयुग्मच्छदगन्धिः नृपोपायनदन्तिनां मदः अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलं तदीयम् आस्थाननिकेतनाजिरं भृशम् आर्द्रतां नयति।

व्याख्या—अयुग्मच्छदस्य सप्तपर्णपुष्पस्य गन्धइव गन्धो यस्यासौ अयुग्मच्छदगन्धिः, नृपाणामुपायनान्युपहारभूता ये दन्तिनस्तेषां मदः। राज्ञामपत्यानि पुमांसो राजन्याः क्षत्रियाः। रथाश्चाश्वाश्च रथाश्वम्। अनेकेषां राजन्यानां रथाश्वेन सङ्कुलं व्याप्तं तदीयम् आस्थाननिकेतनाजिरं सभामण्डपाङ्गनं भृशम् अत्यर्थम् आर्द्रतां पङ्किलत्वं नयति। एतेन महासमृद्धिरस्योक्ता।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—अयुग्मच्छदगन्धिना नृपोपायनदन्तिनां मदेन अनेक राजन्यरथाश्वसङ्कुलं तदीयम् आस्थाननिकेतनाजिरंभृशम् आर्द्रतां नीयते।

व्याकरणम्—अयुग्मच्छदगन्धिः—अयुग्मच्छदस्य गन्ध इ[illegible] गन्धो यस्य (उत्तरपदलोपी बहुव्रीहि) सः। अयुग्माः (न युग्माः) छदाः यस्[illegible] (बहु०) इति अयुग्मच्छदः। नृपोपायनदन्तिनाम्—नृपाणाम् उपायनानि (ष० तत्पु०) नृपोपायनानि, नृपोपायनानि एव दन्तिनः (कर्म०), तेषा[म्] नृपोपायनदन्तिनाम्।

अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलम्—अनेकेषां राजन्यानां रथाश्वं (ष० तत्पु०) तेन संकुलम् (तृ० तत्पु०)। रथाश्वम्—रथाश्च अश्वाश्चे[ति] रथाश्वम् (समाहार द्वन्द्व)। 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इस सूत्र [से] एकवचन हुआ। अनेके राजन्याः इति अनेकराजन्याः (कर्म०), तेषाम् अनेके—न+एके। अथवा न एकः इत्यनेकः, अनेकश्च अनेकश्[च] अनेकश्चेति अनेके (एकशेष)।

आस्थाननिकेतनाजिरम्—आस्थानस्य निकेतनम् (ष० तत्पु०) आस्थान-निकेतनम्, आस्थाननिकेतनस्य अजिरम् (ष० तत्पु०)।

आर्द्रताम्—आर्द्रस्य भावः, (आर्द्र+तल्) ताम्।

विशेष—दुर्योधन की महासमृद्धि का वर्णन है। उदात्त अलङ्कार है, जिसका लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार है—

लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमिष्यते।
यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत्॥

हिन्दी—सामन्त राजाओं के द्वारा उपहार में दिये गये हाथियों का मद, जिसकी गन्ध सप्तपर्ण-पुष्प की गन्ध के सदृश होती है, अनेक सामन्तों के रथ और अश्वों से व्याप्त उसके सभा-मण्डप को निरन्तर गीला बनाये रहता है॥१६॥

महीभृतां सच्चरितैश्चरैः क्रियाः
स वेद निश्शेषमशेषितक्रियः ।
महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभिः
प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः ॥२०॥

अन्वयः—अशेषितक्रियः सः सच्चरितैः चरैः महीभृतां क्रियाः निश्शेषं वेद। धातुरिव तस्य ईहितं महोदयैः हितानुबन्धिभिः फलैः प्रतीयते ।

व्याख्या—अशेषितक्रियः समापितकृत्यः अफलोदयकर्मेत्यर्थः । स दुर्योधनः सच्चरितैः शुद्धचरितैः अवैञ्चकैरित्यर्थः । चरन्तीति चरास्तैश्चरैः प्रणिधिभिः महीभृतां क्रियाः प्रारम्भाद् निश्शेषं वेद वेत्ति । धातुरिव तस्य दुर्योधनस्येहितमुद्योगो महोदयैर्महावृद्धिभिः हितमनुबध्नन्त्यनुरुन्धन्तीति हितानुबन्धिभिः स्वन्तैरित्यर्थः । फलैः कार्यसिद्धिभिः प्रतीयते ज्ञायते । फलानुमेयास्तस्य प्रारम्भा इत्यर्थः ।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—अशेषितक्रियेण तेन सच्चरितैः चरैः महीभृतां क्रियाः निश्शेषं विद्यन्ते । धातुरिव तस्य ईहितं महोदयैः हितानुबन्धिभिः फलैः प्रतियन्ति (जनाः) ।

व्याकरणम्—अशेषितक्रियः—न शेषिताः क्रियाः येन (बहु०) सः । सच्चरितैः—सत् चरितं येषां (बहु०) तैः । महीभृताम्—महीं बिभ्रति इति महीभृतः (उपपद तत्पु०) तेषाम् । महोदयैः—महान् उदयः येभ्यः (बहु०) तैः । हितानुबन्धिभिः—हितम् अनुबध्नन्ति इति (उपपद तत्पु०) ते, तैः । अथवा—हितस्य अनुबन्धः (ष० तत्पु०), सः अस्ति एषाम् इति तैः (मत्वर्थीयो णिनिप्रत्ययः) ।

विशेष—'फलानुमेयाः तस्य प्रारम्भाः'—मल्लिनाथ । उसके कार्य की गति-विधियाँ कार्य की सफलता से ज्ञात होती हैं ।

वक्ष्यन्ति = अदादिगण की √वच् धातु से लृट् लकार प्र० पु० ब० व० का रूप।

दधतः = √धा का शतृ प्रत्ययान्त प्र० विभक्ति ब० व० का रूप। = धारण करते हुए।

सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलै-
रकृष्टपच्या इव सस्यसम्पदः ।
वितन्वति क्षेममदेवमातृका-
श्चिराय तस्मिन् कुरवश्चकासति ॥१७॥

अन्वयः—चिराय तस्मिन् क्षेमं वितन्वति अदेवमातृकाः कुरवः अकृष्टपच्याइव कृषीवलैः सुखेन लभ्याः सस्यसम्पदः दधतः चकासति ।

व्याख्या—चिराय तस्मिन् दुर्योधने क्षेमं वितन्वति क्षेमङ्करे सति देवः पर्जन्य एव माता येषां ते देवमातृका वृष्ट्यम्बुजीविनो देशाः ते न भवन्तीत्यदेवमातृका नदीमातृका इत्यर्थः । कुरूणां निवासाः कुरवो जनपदविशेषाः । कृष्टेन पच्यन्त इति कृष्टपच्याः, तद्विपरीताः अकृष्टपच्या इव । कृषिर्येषामस्तीति तैः कृषीवलैः कर्षकैरित्यर्थः । सुखेनाक्लेशेन लभ्या लब्धुं शक्याः सस्यसम्पदो दधतो धारयन्तः । चकासति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते इत्यर्थः । सम्पन्नजनपदत्वाद् असन्तापकरत्वाच्च दुस्साध्योऽयमिति भावः ।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—चिराय तस्मिन् क्षेमं वितन्वति अदेवमातृकैः कुरुभिः अकृष्टपच्यैः इव कृषीवलैः सुखेन लभ्याः सस्यसम्पदः दधद्भिः चकास्यते ।

व्याकरणम्—वितन्वति—वि + तन् शतृ, सप्तमी एक०, सतिसप्तमी । अदेवमातृकाः—देवः माता येषां (बहु०) ते देवमातृकाः, न देवमातृकाः = अदेवमातृकाः; अदेवमातृ + कप् । अर्थात् वे देश, जहाँ की खेती वर्षा पर निर्भर नहीं होती । कुरवः—कुरुलोगों के निवासभूत जनपदविशेष । अकृष्टपच्याः—कृष्टे पच्यन्ते इति ते (उपपद तत्पु०); न कृष्टपच्याः (नञ् तत्पु०) । सस्यसम्पदः—सस्यस्य सम्पत् (ष० तत्पु०) सस्यसम्पत् ताः । चकासति—चकास् वर्त्तमान, प्र० बहु० ।

विशेष—उसके जनपद के लोग सम्पन्न हैं और वह किसी को कष्ट नहीं देता है, अतः उसे जीतना कठिन है। "सम्पन्न जनपदत्वाद् असन्तापकरत्वाच्च दुस्साध्योऽयमिति भावः।"—मल्लिनाथ।

हिन्दी—चिरकाल से उसके शुभ कार्य करते हुए वर्षा के अभाव में भी कुरुदेश के जनपद बिना हल चलाये हुए खेत में पके हुए धान के सदृश किसानों से अनायास प्राप्य उपज-सम्पत्ति को धारण किये हुए सुशोभित हो रहे हैं ॥१७॥

उदारकीर्त्तेरुदयं दयावतः
प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता
वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी ॥१८॥

कुबेर तुल्य

अन्वयः—उदारकीर्त्तेः दयावतः प्रशान्तबाधम् अभिरक्षया उदयं दिशतः वसूपमानस्य अस्य गुणैः उपस्नुता मेदिनी वसूनि स्वयं प्रदुग्धे।

व्याख्या—उदारकीर्त्तेः महायशसः। दयावतः परदुःखप्रहाणेच्छोः। अतएव प्रशान्तबाधं प्रशमितोपद्रवं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम्, उदयविशेषणं वा, अभिरक्षया सर्वतस्त्राणेनोदयं वृद्धिं दिशतः सम्पादयतः वसूपमानस्य कुबेरोपमस्य अस्य दुर्योधनस्य गुणैर्दयादाक्षिण्यादिभिरुपस्नुता द्राविता मेदिनी वसूनि धनानि स्वयं प्रदुग्धे अक्लेशेन दुह्यत इत्यर्थः। यथा केनचिद् विदग्धेन नवप्रसूता रक्षिता च गौः स्वयं प्रदुग्धे तद्वदिति भावः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—उदारकीर्त्तेः दयावतः प्रशान्तबाधम् अभिरक्षया उदयं दिशतः वसूपमानस्य अस्य गुणैः उपस्नुतया मेदिन्या वसूनि स्वयं प्रदुह्यन्ते।

प्रद्रुग्धे = प्र + द्रुह्, लट्
प्र० पु० एक०।

उपस्नुता = उप + स्नु
+ क्त + टाप्
= द्रवित हुई हुई।

दयावतः = दयावत् का
(षष्ठी) एक० का रूप।
दया ऽस्य ऽस्ति
इति दयावान्। दया +
मतुप्। मतुप् के म् को
व् आदेश हो गया।

समीहितुम् = सम् + ईह् + तुमुन्। करने के लिये

वाञ्छन्ति – वाञ्छ् धातु का लट् पुरुष का बहुवचन का रूप।

संहता: – सम् + हन् + क्त का बहुव।

व्याकरणम्—उदारकीर्त्तेः—उदारा कीर्त्तिः यस्य (बहु०) सः, तस्य। दयावतः—दया अस्य अस्ति इति, दयामतुप्, ष० एक०। प्रशान्तबाधम्—प्रशान्ता बाधा यस्मिन् (बहु०) तत्। अभिरक्षया—करणे तृतीया। वसूपमानस्य—वसु उपमानं यस्य (बहु०) सः, तस्य।

विशेष—मेदिनी—मेद इन् (मत्वर्थे इ निः)। मधु और कैटभ—इन दोनों दानवों के वध से उनकी चर्बी और मांस से आच्छादित पृथ्वी का नाम मेदिनी पड़ा।

मधुकैटभयोस्त्वासीन्मेदमांसपरिप्लुता।
तेनेयं मेदिनी देवी प्रोच्यते ब्रह्मवादिभिः॥

हिन्दी—रक्षा के उपायों से उपद्रवों को शान्त करके प्रजाजन की समृद्धि को सम्पन्न करते हुए और दयावान् परम यशस्वी एवं कुबेरोपम इस दुर्योधन के गुणों से प्रभावित होकर पृथ्वी अनायास सम्पत्ति प्रदान कर रही है॥१८॥

महौजसो मानधना धनार्चिता
धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्त्तयः।
नसंहतास्तस्य नभिन्नवृत्तयः
प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम्॥१९॥

अन्वयः—महौजसः मानधनाः धनार्चिताः संयति लब्धकीर्त्तयः नसंहताः नभिन्नवृत्तयः धनुर्भृतः तस्य असुभिः प्रियाणि समीहितुं वाञ्छन्ति।

व्याख्या—महौजसो महाबलाः, अन्यथा दुर्बलानामनुपकारित्वादिति भावः। मानः कुलशीलाद्यभिमान एव धनं येषां ते मानधनाः। अन्यथा कदाचिद् धनलोभात् परपक्षमपि गच्छेयुरिति भावः। धनार्चिताः धनै-

रचिताः सत्कृताः। अन्यथा दारिद्र्यादेनं जह्युरिति भावः। संयति सङ्ग्रामे लब्धकीर्त्तयः बहुयशस इत्यर्थः। अन्यथा कदाचिन्मुह्येयुरिति भावः। संहताः मिथः सङ्गताः स्वार्थनिष्ठा न भवन्तीति नसंहताः। भिन्नवृत्तयो मिथो विरोधात् स्वामिकार्यकरा न भवन्तीति नभिन्नवृत्तयः, धनुर्भृतो धानुष्काः तस्य दुर्योधनस्य असुभिः प्राणैः प्रियाणि समीहितुं कर्त्तुं वाञ्छन्ति।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—महौजोभिः मानधनैः धनार्चितैः संयति लब्धकीर्त्तिभिः नसंहतैः नभिन्नवृत्तिभिः धनुर्भृद्भिः तस्य असुभिः प्रियाणि समीहितुं वाञ्छयन्ते।

व्याकरणम्—महौजसः—महत् ओजः येषाम् (बहु०) ते। मानधनाः—मान एव धनं येषां (बहु०) ते। धनार्चिताः—धनेन अर्चिताः (तृ० तत्पु०)। लब्धकीर्त्तयः—लब्धा कीर्त्तिः यैः (बहु०) ते। नसंहताः—न संहताः (सुप्सुपा समासः)। नभिन्नवृत्तयः—न भिन्नाः वृत्तयः येषाम् (बहु०)।

विशेष—काव्यलिङ्ग अलङ्कार। यहाँ पर 'महौजस्' आदि पदार्थ प्राणदान कर्त्तव्य के प्रति हेतु रूप से कहे गये हैं। 'अत्र महौजस आदि पदार्थानां प्राणदानकर्त्तव्यतां प्रति विशेषणगत्या हेतुत्वाभिधानात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः।'—मल्लिनाथ।

'महौजसः' आदि अभिप्रायगर्भित विशेषण हैं। अतः परिकर अलङ्कार भी है।

हिन्दी—महापराक्रमशाली एवं जिनका मान ही धन है तथा जिन्होंने युद्ध में यश पाया है, ऐसे धनुषधारी वीर पुरुष उसके द्वारा धन से सम्मानित होकर दलबन्दी तथा विरोधी गतिविधियों को न अपनाकर अपने प्राणों से उसका प्रिय करना चाहते हैं ॥१६॥

हिन्दी—वह, जिसका कोई भी काम अधूरा नहीं रहा, शुद्ध चरित्रवाले गुप्तचरों से राजाओं के समस्त कार्यों को जानता है। जैसे विधाता की इच्छा का वैसे ही उसकी विशाल योजनाओं का अनुमान अतिलाभकारी और परिणाम में सुखावह फल-सिद्धि के द्वारा ही निष्पन्न होता है ॥२०॥

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः
कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम् ।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते-
नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम् ॥२१॥

अन्वयः—तेन क्वचित् सज्यं धनुः न उद्यतम्, आननं च कोपविजिह्मं न कृतम्। गुणानुरागेण नराधिपैः अस्य शासनं माल्यम् इव शिरोभिः उह्यते।

व्याख्या—तेन राज्ञा क्वचित् कुत्रापि सह ज्यया मौर्व्या सज्यं धनुर्नोद्यतं नोर्ध्वीकृतम्। आननं च कोपविजिह्मं कोपकुटिलं न कृतम्। यस्य कोप एव नोदेति कुतस्तस्य युद्धप्रसक्तिरिति भावः। गुणेषु दयादाक्षिण्यादिष्वनुरागेण प्रेम्णा। माल्यपक्षे—सूत्रानुषङ्गेण। यद्वा सौरभ्यगुणलाभेन नराधिपैरस्य शासनमाज्ञा मालैव माल्यं तदिव शिरोभिरुह्यते धार्यते।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—सः क्वचित् सज्यं धनुः न उद्यतवान्, आननं च कोपविजिह्मं न कृतवान्। गुणानुरागेण नराधिपाः अस्य शासनं माल्यम् इव शिरोभिः वहन्ति।

व्याकरणम्—सज्यम्—ज्यया सह वर्त्तते इति (बहु०), 'तेन सहेति तुल्ययोगे'। कोपविजिह्मम्—विजिह्मम्—विशेषेण जिह्मम् (प्रादि तत्पु०);

उद्यते — वह है कर्मवाच्य
लट् प्र० पु० एक०।
कारण (किया जाता है
(प्रश्नार्थी — उठाया
जाता है)

उद्यतम् — उद् + यम्
+ क्त । उठाया

विलीनः = वि ली + क्त
प्रत्यय युक्त

प्रविलीनः = विलीन [illegible]
[illegible] प्रत्यय को
[illegible] करें

प्रमुदितः = प्र मुद् + क्त
+ क्त [illegible]
[illegible]

पुरोधसा = पुरोधस्
इस प्राति०
[illegible] पुरोहित
के द्वारा (प्रमुदितः प्रमुदित
(हुआ [illegible])

कोपेन विजिह्मम् (तृतीया तत्पु०)। गुणानुरागेण—गुणेषु अनुरागः (सप्तमी (तत्पु०), सः, तेन।

नराधिपैः—नराणाम् अधिपाः (ष० तत्पु०) तैः। माल्यम्—माला एव माल्यम्, स्वार्थे ष्यञ्।

विशेष—'आननं कोपविजिह्मं न कृतम्।' उसने अपने मुख को क्रोध से कुटिल नहीं किया। उक्त वाक्य से उसकी शान्ति-प्रियता एवं युद्ध के लिए अरुचि प्रकट होती है। गुणानुरागेण—राजा के पक्ष में—दयादाक्षिण्यादि गुणों के प्रति प्रेम के कारण। 'गुणेषु प्रेम्णा।' माला के पक्ष में—सूत्र में गुँथे होने से अथवा सौरभ की लिप्सा से—सूत्रानुषङ्गेण, यद्वा सौरभ्यगुणलाभेन।

हिन्दी—उसने डोरी चढ़ाकर धनुष को किसी पर नहीं ताना। अपने मुख को क्रोध से कुटिल नहीं किया। उसके दयादाक्षिण्यादि गुणों से वशीकृत राजन्य उसके आदेशों को, जैसे सौरभ की लिप्सा से धागे में गुँथी हुई पुष्पमाला को, सिर पर धारण करते हैं ॥२१॥

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं
निधाय दुःशासनमिद्धशासनः।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा
धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम् ॥२२॥

अन्वयः—इद्धशासनः सः नवयौवनोद्धतं दुश्शासनं यौवराज्ये निधाय पुरोधसा अनुमतः अखिन्नः मखेषु हव्येन हिरण्यरेतस धिनोति।

व्याख्या—इद्धशासनोऽप्रतिहताज्ञः स दुर्योधनो नवयौवनोद्ध प्रगल्भम्। धुरन्धरमित्यर्थः। दुःखेन शास्यत इति दुश्शासनस्तम् यौवराज्ये युवराजकर्मणि निधाय नियुज्येत्यर्थः। पुरोधसा पुरोहितेनानु

मतोऽनुज्ञातः। तस्मिन् याजके सतीत्यर्थः। तदुल्लङ्घने दोषस्मरणादिति भावः। आखिन्नोऽनलसो मखेषु क्रतुषु हव्येन हविषा हिरण्यं रेतो यस्य त हिरण्यरेतसम् अनलं धिनोति प्रीणयति।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—इद्धशासनेन तेन नवयौवनोद्धतं दुश्शासनं यौवराज्ये निधाय पुरोधसा अनुमतेन अखिन्नेन मखेषु हव्येन हिरण्यरेताः धिन्व्यते।

व्याकरणम्—इद्धशासनः—इद्धं शासनं यस्य (बहु०), सः। नवयौवनोद्धतम्—नवं यौवनम् (कर्म०), नवयौवनेन उद्धतः (तृ० तत्पु०) तम्। यौवराज्ये—युवा चासौ राजा चेति (कर्म०); युवराजस्य कर्म—यौवराज्यम्, युवराज+ष्यञ्।

निधाय—नि+धा+क्त्वा=ल्यप्।

अखिन्नः—न खिन्नः (नञ् तत्पु०)।

धिनोति—धिवि (धिन्व्०) लट् प्र० एक। प्रसन्न करता है।

विशेष—पुरोधसा अनुमतः—यहाँ पर अनु+मन् से 'क्त' भूतार्थ में हुआ है—'निष्ठा' इस सूत्र से, न कि वर्त्तमान अर्थ में। यदि वर्त्तमान अर्थ में 'क्त' का प्रयोग हुआ होता तब 'पुरोधसः' षष्ठ्यन्त प्रयोग होता—'क्तस्य च वर्त्तमाने' इस सूत्र से; क्योंकि पद्य में 'पुरोधसा' तृतीयान्त है, अतः भूतार्थ में ही यहाँ पर 'क्त' का प्रयोग हुआ है। मतिबुद्धि—आदि सूत्र से जो मन् आदि धातुओं से 'क्त' का प्रयोग वर्त्तमान काल में होता है, वह इन धातुओं से भूतार्थ में 'क्त' का बाधक नहीं होता। मनोरमा में लिखा है—"नच तक्रकौण्डिन्यन्यायेन मत्यादिभ्यः क्तस्य वर्त्तमानकालो भूतकालतां बाधते इति वाच्यम्।"

हिन्दी—वह, जिसकी आज्ञा का कभी लंघन नहीं होता, नवागत यौवन से उद्धत दुश्शासन को युवराज बनाकर, स्वयं आलस्य को त्यागकर पुरोहित की आज्ञा से यज्ञों में हवि द्वारा अग्निदेव को प्रसन्न करता है।।२२।।

प्राग्भि-पति = उत्तरकाल
प्रकर्षोऽत्र — प्राग्भति
[illegible] उत्तरकालः स्यात्।
दिग्विरापति (पुं०) {मण्डलम् का विशेषण} दिग्विर है
उत्तरकाला प्रवर्तित भविष्य
निश्चय। दिग्विरा प्राप्ति
प्रविष्ट च हुं० समास है।
पुरासत् — पुर उपसर्ग
पूर्वक सद् धातु से
की शास्त्र भाग का
शास्त्र उत्पत्ति का नाम
का पुं० ए० व०। पुरासन
करता हुआ।

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति
प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः ।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यती-
रहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ॥२३॥

अन्वयः—सः प्रलीनभूपालं स्थिरायति भुवः मण्डलम् आवारिधि प्रशासत् अपि त्वदेष्यतीः भियः चिन्तयत्येव । अहो बलवद्विरोधिता दुरन्ता ।

व्याख्या—स दुर्योधनः प्रलीनभूपालं निस्सपत्नमित्यर्थः । स्थिरायति चिरस्थायीत्यर्थः । भुवो मण्डलमा वारिधिभ्य आवारिधि प्रशासद् आज्ञापयन्नपि त्वत् त्वत्त एष्यतीः आगमिष्यतीः भियो भयहेतून् विपद इत्यर्थः । चिन्तयत्या—लोचयत्येव । स एवाह—अहो बलवद्विरोधिता दुरन्ता दुष्टावसाना । सार्वभौमस्यापि प्रबलैः सह वैरायमाणत्वमनर्थपर्यवसाय्येवेति तात्पर्यम् ।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—तेन प्रलीनभूपालं स्थिरायति भुवः मण्डलम् आवारिधि प्रशासता अपि त्वदेष्यत्यः भियः चिन्त्यन्ते एव । अहो बलवद्विरोधितया दुरन्तया (भूयते) ।

व्याकरणम्—प्रलीनभूपालम्—प्रलीनाः भूपालाः यस्मिन् (बहु०) तत् । स्थिरायति—स्थिरा आयतिः यस्मिन् (बहु०) तत् । आवारिधि—वारिधेः आ (अव्ययीभाव); मर्यादा के अर्थ में 'आङ्' का प्रयोग हुआ है; समुद्रपर्यन्त । त्वदेष्यतीः—त्वत् एष्यतीः । एष्यतीः—इ+लृट् शतृ+ङीप्, आनेवाली; गत्यर्थक इ धातु का 'प्राप्ति' अर्थ भी हो सकता है । मल्लिनाथ 'ऐष्यतीः'=आ+एष्यतीः पाठ को विशेषता देते हैं ।

एष्यतीः । नुम् के आगम से एष्यन्तीः । अथवा—ऐष्यतीः । नुम् के आगम से ऐष्यन्तीः ।

बलवद्विरोधिता—बलमस्ति अस्येति बलवत्, बलवता विरोधिता (तृ० तत्पु०) ।

दुरन्ता—दुः अन्तः यस्याः (बहु०) सा ।

विशेष—अर्थान्तरन्यास । सामान्य से विशेष का समर्थन किया गया है । यद्यपि वह निष्कंटक, चिरस्थायी समुद्र-पर्यन्त भूभाग का शासन कर रहा है तो भी उसे आपसे भय है । सार्वभौम, चातुरन्त चक्रवर्त्ती नृपति को भी बलवान् शत्रुओं से भय रहता है ।

हिन्दी—वह शत्रु-रहित एवं चिरस्थायी राज्य का समुद्र-पर्यन्त शासन करता हुआ भी आपसे आनेवाले भय की चिन्ता करता ही रहता है । ठीक है कि बलवानों के साथ विरोध करने का परिणाम बुरा होता है ।।२३।।

कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृता-
दनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः ।
तवाभिधानाद् व्यथते नताननः
स दुस्सहान्मन्त्रपदादिवोरगः ।।२४।।

अन्वयः—कथाप्रसङ्गेन जनैः उदाहृतात् तवाभिधानात् अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः सः दुस्सहात् मन्त्रपदात् अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः उरग इव नताननः सन् व्यथते ।

व्याख्या—कथाप्रसङ्गेन गोष्ठीवचनेन जनैः अन्यत्र कथा सङ्गेन विषवैद्येन उदाहृताद् उच्चारितात् तवाभिधानात् नामधेयात् स्मारकाद् हेतोः, अन्यत्र तवाभिधानात् । "नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्"



इति न्यायात् तश्च वश्च तवौ तार्क्ष्यवासुकी तयोरभिधानं यस्मिन पदे तस्मात् । यद्वा कथा-प्रसङ्गे इनाश्च ते जनाश्चेत्येकं पदम् । अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः स्मृतार्जुनपराक्रमः सुदुस्सहादतिदुस्सहात् मन्त्रपदात् मन्त्रशब्दात् स्मारकाद् हेतोः, आखण्डलसूनुः इन्द्रानुजः । उपेन्द्रो विष्णुरिति यावत् । तस्य विः पक्षी गरुड इत्यर्थः, तस्य क्रमः पादविक्षेपः सोऽनुस्मृतो येन स तथोक्तः, स्मृतगरुडमहिमा, उरग इव नताननः सन् व्यथते दुःखायते ।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—कथाप्रसङ्गेन जनैः उदाहृतात् तवाभिधानात् अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमेण तेन दुरसहात् मन्त्रपदात् अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमेण उरगेण इव नताननेन सता व्यथ्यते ।

व्याकरणम्—कथाप्रसङ्गेन—कथायाः प्रसङ्गः (ष० तत्पु०) कथाप्रसङ्गः तेन । अथवा 'कथाप्रसङ्गेनजनैः' एक पद है—कथाप्रङ्गेषु इनाः (स० तत्पु०) कथाप्रसङ्गेनाः, कथाप्रसङ्गेनाश्च ते जनाश्च (कर्म०) । अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः—आखण्डलस्य सूनुः (ष० तत्पु०) आखण्डलसूनुः, आखण्डलसूनोः (अर्जुनस्य) विक्रमः (ष० तत्पु०) आखण्डलसूनुविक्रमः; अनुस्मृतः आखण्डलसूनुविक्रमः येन (बहु०) सः । अथवा—आखण्डलसूनोः (विष्णोः) विः (गरुडः) (ष० तत्पु०); तस्य क्रमः (ष० तत्पु) अनुस्मृतः आखण्डलसूनुविक्रमः येन (बहु०) सः । तवाभिधानात्—तश्च वश्चेति तवौ (द्वन्द्व) (तः = तार्क्ष्यः, वः = वासुकिः); तवयोः अभिधानं यस्मिन् (बहु०) तस्मात् । दुस्सहात्—दुःखेन सह्यते इति तत्, तस्मात् । मन्त्रपदात्—मन्त्रस्य पदम् (ष० तत्पु०) तस्मात् । नताननः—नतम् आननं यस्य (बहु०) सः ।

विशेष—ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर लघु भ्राता अर्जुन के पराक्रम की प्रशंसा कर रहे हैं । मल्लिनाथ ने इसका समर्थन किया है—

सर्वतो जयमन्विच्छेत् पुत्रादिच्छेत् पराजयम् ।

हिन्दी—गोष्ठी-चर्चा में जब लोग आपका नाम लेते हैं तब वह दुर्योधन इन्द्रपुत्र अर्जुन के पराक्रम का संस्मरण करके, सिर झुकाकर सन्तप्त हुआ करता है; जैसे कि विषवैद्य से उच्चारित गरुड और वासुकि के नामयुक्त अतिदुस्सह मन्त्रपद से विष्णुवाहन गरुड की वेगवती गति का स्मरण करके साँप नतमस्तक होकर व्यथित हुआ करता है ॥२४॥

तदाशु कर्त्तुं त्वयि जिह्ममुद्यते
विधीयतां तत्र विधेयमुत्तरम् ।
परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां
प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः ॥२५।

अन्वयः—तत् त्वयि जिह्मं कर्त्तुम् उद्यते तत्र विधेयम् उत्तरम् आशु विधीयताम् । परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां मादृशां गिरः प्रवृत्तिसाराः खलु ।

व्याख्या—तत् तस्मात् त्वयि जिह्मं कपटं कर्त्तुमुद्यते, त्वां जिघांसावित्यर्थः। तत्र तस्मिन् दुर्योधने विधेयं कर्त्तव्यमुत्तरं प्रतिक्रियाऽऽशु विधीयतां क्रियताम् । ननु कर्त्तव्यमपि त्वयैवोच्यतामिति चेत्तत्राह—परेति । परप्रणीतानि परोक्तानि वचांसि चिन्वतां गवेषयतां मादृशां वार्त्ताहारिणामित्यर्थः गिरः । प्रवृत्तिसारा वार्त्तामात्रसाराः खलु । वार्त्तामात्रवादिनो वयम्, नतु कर्त्तव्यार्थोपदेशसमर्थाः । अतस् त्वयैव निर्धार्य कार्यमिति भावः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—तत् त्वयि, जिह्मं कर्त्तुम् उद्यते तत्र विधेयम् उत्तरम् आशु विधेहि । परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां मादृशां गीर्भिः प्रवृत्तिसाराभिः भूयते खलु ।

व्याकरणम्—विधेयम्—वि + धा + यत् (कर्मणि प्रत्ययः)।

विधीयताम्—वि+धा+लोट् (कर्मणि) प्र० एक०।
परप्रणीतानि—परैः प्रणीतानि (तृ० तत्पु०)।
चिन्वताम्—चि+शतृ (ष० बहु०)।
प्रवृत्तिसाराः—प्रवृत्तिः सारो यासां (बहु०) ते।
खलु—एव।

विशेष—हम केवल गुप्त सूचनाओं के निवेदक हैं। कर्त्तव्य अर्थ के उपदेशक हम नहीं हैं।

अर्थान्तरन्यास अलङ्कार। सामान्य से विशेष का समर्थन किया गया है।

हिन्दी—जबकि वह इस प्रकार कपट करने में प्रवृत्त है तब आपको उसकी प्रतिक्रिया शीघ्र करनी चाहिए। परोक्त वचनों का संग्रह करनेवाले मुझ जैसों के वाक्य सूचना-मात्र के प्रयोजक होते हैं।* ॥२५॥

इतीरयित्वा गिरमात्तसत्क्रिये
गतेऽथ पत्यौ वनसन्निवासिनाम्।
प्रविश्य कृष्णासदनं महीभुजा
तदाचचक्षेऽनुजसन्निधौ वचः ॥२६॥

अन्वयः—वनसन्निवासिनां पत्यौ इति गिरम् ईरयित्वा आत्तसत्क्रिये गते अथ महीभुजा कृष्णासदनं प्रविश्य अनुजसन्निधौ तद्वचः आचचक्षे।

व्याख्या—वनसन्निवासिनां पत्यौ वनेचराधिपे इति गिरम् ईरयित्वोक्त्वाऽऽत्तसत्क्रिये गृहीतपारितोषिके गते सति अथ महीभुजा राज्ञा कृष्णासदनं द्रौपदीभवनं प्रविश्य अनुजसन्निधौ तद्वनेचरोक्तं वचो

* अर्थात् कर्त्तव्य अर्थ का उपदेश देना हमारा लक्ष्य नहीं होता। हमारा कर्त्तव्य केवल सूचना देना है।

वाक्यमाचचक्षे आख्यातम्। अथवा कृष्णेति पदच्छेदः। सदनं प्रविश्यानुजसन्निधौ तद्वचः कृष्णाऽऽचचक्षे आख्याता।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—वनसन्निवासिनां पत्यौ इति गिरम् ईरयित्वा आत्तसत्क्रिये गते अथ महीभुक् कृष्णासदनं प्रविश्य अनुजसन्निधौ तद्वचः आचचक्षे।

अथवा

...अथ महीभुक् सदनं प्रविश्य अनुजसन्निधौ कृष्णां तद्वचः आचचक्षे।

व्याकरणम्—वनसन्निवासिनाम्—वने सन्निवसन्तीति (उपपद तत्पु०) ते, तेषाम्। आत्तसत्क्रिये—आत्ता सत्क्रिया येन (बहु०) स आत्तसत्क्रियः, तस्मिन्। कृष्णासदनम्—कृष्णायाः सदनम् (ष० तत्पु०)

अथवा 'कृष्णा' 'सदनम्'—ये दो अलग-अलग पद हैं। आचचक्षे —आ+चक्ष्+लिट् आत्मने (कर्मणि)।

विशेष—अथ मंगलसूचक अव्यय है। युधिष्ठिर के भावी विजयमङ्गल का द्योतक है।

हिन्दी—इस प्रकार सन्देश देकर तथा सम्मान पाकर वनचरराज के चले जाने पर महाराज युधिष्ठिर द्रौपदी के कुटीर को गये और वहाँ भाइयों के समक्ष द्रौपदी से पूरा वृत्तान्त कह सुनाया ॥२६॥

निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृती-
स्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा।
नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनी—
रुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः ॥२७॥



अन्वयः—द्रुपदात्मजा द्विषतां सिद्धिं निशम्य ततः ततस्त्याः अपाकृतीः विनियन्तुम् अक्षमा नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीः गिरः उदाजहार।

व्याख्या—अथ द्रुपदात्मजा द्रौपदी द्विषतां सिद्धिं वृद्धिरूपां निशम्य ततस्तदनन्तरम्। ततो द्विषद्भ्य आगताः ततस्त्याः अपाकृतीः विकारान् विनियन्तुं निरोद्धुम् अक्षमा सती नृपस्य युधिष्ठिरस्य मन्युव्यवसाययोः क्रोधोद्योगयोर्दीपनीः संवर्धिनीः गिरः वाक्यानि उदाजहार जगादेत्यर्थः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—द्रुपदात्मजया द्विषतां सिद्धिं निशम्य ततः ततस्त्याः अपाकृतीः विनियन्तुम् अक्षमया नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिन्यः गिरः उदाजह्रिरे।

व्याकरणम्—द्रुपदात्मजा—द्रुपदस्य आत्मजा (ष० तत्पु०)। ततस्त्या—ततः + त्यप्, अव्ययात् त्यप्। द्विषताम्—द्विषन्तीति, द्विष् + शतृ। अपाकृतीः—अप + आ + कृ + क्तिन् + ङीप्, द्वितीया बहु०। विनियन्तुम्—वि + नि + यम् + तुमुन्। अक्षमा—न क्षमा (नञ् तत्पु०)। मन्युव्यवसायदीपिनीः—मन्युश्च व्यवसायश्चेति मन्युव्यवसायौ (द्वन्द्व); मन्युव्यवसाययोः दीपिन्यः (ष० तत्पु०) इति ताः। उदाजहार—उद् आ + हृ लिट्। बोली।

विशेष—उदाजहार—हृ धातु का अर्थ 'चुराना' है; 'उद् + आ' उपसर्ग जोड़ने से इसका अर्थ 'बोलना' हो जाता है। उपसर्ग जोड़ने से धातु का अर्थ बदल जाता है। इस सम्बन्ध में एक कारिका है—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्॥

हिन्दी—द्रौपदी शत्रुओं की सफलता-रूपी प्रशंसा को सुनकर उनके द्वारा किये गये अपकारों के रोकने में अपने को असमर्थ पाकर क्रोध और उद्योग के दीपक वाक्य युधिष्ठिर से कहने लगी॥२७॥

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं
भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम् ।
तथापि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां
निरस्तनारीसमया दुराधयः ॥२८॥

अन्वयः—भवादृशेषु प्रमदाजनोदितम् अनुशासनम् अधिक्षेपः इव भवति । तथापि निरस्तनारीसमयाः दुराधयः मां वक्तुं व्यवसाययन्ति।

व्याख्या—भवादृशो भवद्विधाः पण्डिता इत्यर्थः । तेषु विषये प्रमदाजनोचितं स्त्रीजनोक्तम् । अनुशासनं नियोगवचनम् अधिक्षेपस्तिरस्कार इव भवति अतो न युक्तं वक्तुमित्यर्थः । तथाऽपि वक्तुम् अनुचितत्वेऽपि निरस्तनारीसमयाः त्याजितशालीनतारूपस्त्रीसमाचाराः दुराधयः समयोल्लङ्घन—हेतुत्वाद् दुष्टा मनोव्यथाः मां वक्तुं व्यवसाययन्ति प्रेरयन्ति । न किञ्चिदयुक्तं दुःखिनामिति भावः ।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—भवादृशेषु प्रमदाजनोदितेन अनुशासनेन अधिक्षेपेण इव भूयते । तथापि निरस्तनारीसमयैः दुराधिभिः अहं वक्तुं व्यवसाय्ये ।

व्याकरणम्—प्रमदाजनोचितम्—प्रमदा चासौ जनश्चेति प्रमदाजनः (कर्म०), प्रमदाजनेन उदितम् (तृ० तत्पु०) । निरस्तनारीसमयाः—नारीणां समयाः (ष० तत्पु०), निरस्ताः नारीणां समयाः यैः (बहु०) ते । समय—शालीनतादिधर्म ।

दुराधयः—दुष्टः आधिः=दुराधिः (प्रादितत्पु०) ते ।

व्यवसाययन्ति—वि + अव + सो + णिच् , लट् , प्र० बहु० ।

विशेष—मल्लिनाथ ने इसका तात्पर्यार्थ इस प्रकार कहा है—'न किञ्चिदयुक्तं दुःखितानाम् ।' दुःखी जन यदि अयुक्त भी कहे तो वह अयुक्त नहीं होता ।

हिन्दी—आप-जैसे व्यक्ति के सम्बन्ध में स्त्री-जाति का आदेश-वाक्य निन्दा के सदृश होता है। तो भी मेरी प्रबल मानसिक वेदनाएँ, जिन्होंने मुझसे स्त्रीजनोचित शालीनता को छुड़ाया है, मुझे कहने के लिए प्रेरित करती हैं ॥२८॥

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभि-
श्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः ।
त्वयाऽऽत्महस्तेन मही मदच्युता
मतङ्गजेन स्रगिवापवर्जिता ॥२९॥

अन्वयः—आखण्डलतुल्यधामभिः स्ववंशजैः भूपतिभिः चिरम् अखण्डं धृता मही त्वया मदच्युता मतङ्गजेन स्रग् इव आत्महस्तेन अपवर्जिता ।

व्याख्या—आखण्डलतुल्यधामभिः इन्द्रतुल्यप्रभावैः स्ववंशजैः भूपतिभिः भरतादिभिः चिरम् अखण्डम् अविच्छिन्नं धृता मही त्वया मदं च्योततीति मदच्युत् तेन मदस्राविणा मतङ्गजेन स्रगिव आत्महस्तेन स्वकरेण स्वचापलेनेत्यर्थः । अपवर्जिता परिहृता त्यक्ता । स्वदोषादेवाय-मनर्थागम इत्यर्थः ।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—आखण्डलतुल्यधामभिः स्ववंशजैः भूपतिभिः चिरम् अखण्डं धृतां महीं त्वं मदच्युत् मतङ्गजः स्रजम् इव आत्महस्तेन अपवर्जितवान् ।

व्याकरणम्—आखण्डलतुल्यधामभिः—आखण्डलेन तुल्यं धाम येषां (बहु०) ते आखण्डलतुल्यधामानः तैः। स्ववंशजैः—स्वस्य वंशः स्ववंशः, स्ववंशे जाताः इति स्ववंशजाः तैः (उपपदतत्पु०)। अखण्डम्—न खण्डः अखण्डः, अखण्डं यथा स्यात् तथा। मदच्युता—मदं च्योत-तीति मदच्युत् (उपपदतत्पु०) तेन। मतङ्गजेन—मतङ्गात् जाता इति

मतङ्गजः तेन। आत्महस्तेन—आत्मनः हस्तः (ष० तत्पु०) आत्महस्तः, तेन।

विशेष—मल्लिनाथ के अनुसार इसका तात्पर्यार्थ इस प्रकार है—'स्वदोषादेवायमनर्थागमः।' अर्थात् आपने अपने हाथों अपना बुरा किया है।

हिन्दी—इन्द्र के सदृश तेजस्वी आपके वंशज राजाओं ने जिस पृथ्वी का चिरकाल तक सतत उपभोग किया था, उसे आप अपने हाथों खो बैठे जैसे एक मदस्रावी हाथी अपनी सूँड़ से पुष्पमाला को खो बैठता है ॥२६॥

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं
भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधा-
नसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ॥३०॥

अन्वयः—मूढधियः ते पराभवं व्रजन्ति ये मायाविषु मायिनः न भवन्ति। शठाः तथाविधान् असंवृताङ्गान् निशिताः इषवः इव प्रविश्य घ्नन्ति हि।

व्याख्या—मूढधियो निर्विवेकबुद्धयस्ते पराभवं व्रजन्ति ये मायाविषु मायावत्सु विषये मायिनो मायावन्तः न भवन्ति। शठा अपकारिणो धूर्त्ताः तथाविधान् अकुटिलान् असंवृताङ्गान् अवर्मितशरीरान् निशिता इषव इव प्रविश्य प्रवेशं कृत्वाऽऽत्मीया भूत्वा घ्नन्ति हि। आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिरिति भावः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—मूढधीभिः तैः पराभवः व्रज्यते यैः मायाविषु मायिभिः न भूयते। शठैः तथाविधाः असंवृताङ्गाः निशितैः इषुभिः इव प्रविश्य हन्यन्ते हि।

व्याकरणम्—मूढधियः—मूढा धीः येषाम् (बहु०) ते।

निशिताः = नि - शो (शा)
क्त, तनूकृता
[illegible] तनूकरणे

वाच्यपरिवर्त्तनम्—अनुरक्तसाधनेन कुलाभिमानिना त्वदन्येन केन इव नराधिपेन गुणानुरक्ता कुलजा मनोरमा श्रीः आत्मवधूः इव परैः अपहार्यते ?

व्याकरणम्—अनुरक्तसाधनः—अनुरक्तानि साधनानि यस्य (बहु॰) सः। कुलाभिमानी—कुलस्य अभिमानः अस्ति यस्य (बहु॰) सः। त्वदन्यः—त्वत् अन्यः।

नराधिपः—नराणाम् अधिपः—(ष॰ तत्पु॰) गुणानुरक्ताम्—गुणैः अनुरक्ता (तृ॰ तत्पु॰) ताम्।

कुलजाम्—कुलात्, कुले वा जाता इति ताम्।

आत्मवधूम्—आत्मनः वधूः (ष॰ तत्पु॰) आत्मवधूः, ताम्।

अपहारयेत्—अप+हृ+णिच् विधिलिङ्, प्र॰ एक॰।

विशेष—जैसे पत्नी का अपहरण मानहानि का कारण होता है, वैसे ही राजलक्ष्मी का अपहरण भी मानहानि का कारण होता है। 'कलत्रापहारवत् लक्ष्म्यापहारोऽपि राज्ञः मानहानिकरत्वाद् अनुपेक्षणीयः।'

हिन्दी—इस भूतल पर तुम्हारे सिवा अन्य कौन ऐसा राजा है, जो उच्च कुल का अभिमान रखता हुआ अनुकूल साधनों के रहते हुए भी सन्धि, विग्रह, यान, आसन आदि षड्गुणों के यथोचित प्रयोग से आकृष्ट कुल क्रमागत राजलक्ष्मी को सौन्दर्यादि गुणों से अनुरक्त कुलीन एवं सुन्दरी पत्नी की भाँति अपहृत होने देगा ? ॥३१॥

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते
विवर्तमानं नरदेव वर्त्मनि।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः
शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः ॥३२॥



अन्वयः—नरदेव ! एतर्हि मनस्विगर्हिते वर्त्मनि विवर्त्तमानं भवन्तम् उदीरितः मन्युः शुष्कं शमीतरुम् उच्छिखः अग्निः इव कथं न ज्वलयति ?

व्याख्या—नरदेव हे नरेन्द्र एतर्हीदानीम्, अस्मिन् आपत्कालेऽपीत्यर्थः। मनस्विगर्हिते शूरजनजुगुप्सिते वर्त्मनि मार्गे विवर्त्तमानं शत्रुकृतां दुर्दशामनुभवन्तमित्यर्थः। भवन्तं त्वाम् उदीरित उद्दीपितो मन्युः क्रोधः शुष्कं नीरसम्, शमी चासौ तरुश्चेति तम्, उच्छिखः उद्गतज्वालः वह्निरिव कथं न ज्वलयति, ज्वलयितुमुचितमित्यर्थः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—नरदेव ! एतर्हि मनस्विगर्हिते वर्त्मनि विवर्त्तमानः भवान् उदीरितेन मन्युना शुष्कः शमीतरुः उच्छिखः अग्निः इव कथं न ज्वल्यते ?

व्याकरणम्—नरदेव—नराणां देवः (निर्धारणे) (ष० तत्पु०) अथवा नरेषु देवः (स० तत्पु०) तत्सम्बुद्धौ।

एतर्हि—इदम् + र्हिल्। इदम् को एत आदेश होता है।

मनस्विगर्हिते—मनस्विभिः गर्हितः (तृ० तत्पु०) तस्मिन्।

विवर्त्तमानम्—वि + वृत् + शानच्।

उदीरितः—उद् ईर् + णिच् + क्त।

शमीतरुम्—शमी चासौ तरुश्चेति (कर्म०) तम्।

उच्छिखः—उद्गता शिखा यस्य (बहु०) सः।

विशेष—इस पद्य से लेकर दस पद्यों में युधिष्ठिर के कोपानल को प्रदीप्त करने का प्रयास किया गया है।

'अथ दशभिः कोपोद्दीपनं करोति।'—मल्लिनाथ

हिन्दी—हे नरेन्द्र ! अब वीर पुरुषों से निन्दित मार्ग पर चलते हुए आपको स्वयं का प्रबल कोप क्योंकर नहीं जलाता, जैसे कि नीरस शमी वृक्ष को ज्वालायुक्त प्रचण्ड अग्नि जला देती है ? ॥३२॥

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां
भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना
न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥३३॥

अन्वयः—अवन्ध्यकोपस्य आपदां विहन्तुः देहिनः (जन्तवः) स्वयमेव वश्याः भवन्ति । अमर्षशून्येन जन्तुना जातहार्देन जनस्य आदरः न, विद्विषा (च आदरः न) ।

व्याख्या—अवन्ध्यः कोपो यस्य तस्यावन्ध्यकोपस्य अतएव आपदां विहन्तुर्निग्रहानुग्रहसमर्थस्येत्यर्थः, पुंस इति शेषः । देहिनो जन्तवः स्वयमेव वश्या वशंगता भवन्ति । अतस्त्वया कोपिना भवितव्यमित्यर्थः । व्यतिरेके त्वनिष्टमाचष्टे—अमर्षशून्येन निष्कोपेन जन्तुना जातहार्देन जातस्नेहेन सता जनस्यादरो न, विद्विषा द्विषता च सताऽऽदरो न । अमर्षहीनस्य रागद्वेषावकिञ्चित्करत्वादगण्यावित्यर्थः । अथवा विद्विषा दरो भयं न ।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—अवन्ध्यकोपस्य आपदां विहन्तुः देहिभिः (जन्तुभिः) स्वयमेव वश्यैः भूयते । अमर्षशून्येन जन्तुना जातहार्देन जनस्य आदरेण न (भूयते) । विद्विषा (च आदरेण न भूयते, अथवा दरेण न भूयते) ।

व्याकरणम्—अवन्ध्यकोपस्य—अवन्ध्यः कोपो यस्य (बहु०) सः अवन्ध्यकोपः तस्य । अमर्षशून्येन—अमर्षेण शून्यः (तृ० तत्पु०) अमर्षशून्यः, तेन । जातहार्देन—जातं हार्दं यस्य (बहु०) स जातहार्दः, तेन ।

विशेष—जिसका कोप व्यर्थ नहीं जाता, उस निग्रहानुग्रह में समर्थ व्यक्ति के सभी प्राणी वशगत हो जाते हैं । कोपहीन पुरुष की

शत्रुता से कोई भय नहीं लगता और न उसके स्नेह से कुछ लाभ होता है। 'अमर्षहीनस्य रागद्वेषौ अकिञ्चित्करत्वाद् अगण्यौ इत्यर्थः।'—मल्लिनाथ।

हिन्दी—जिसका कोप विफल नहीं जाता और जो विपदाओं के उन्मूलन में समर्थ है, उस व्यक्ति के वश में सभी लोग आ जाते हैं। क्रोध-रहित व्यक्ति के मित्र होने पर भी कोई लाभ नहीं, शत्रु होने पर भी कोई हानि या भय नहीं ॥३३॥

परिभ्रमँल्लोहितचन्दनोचितः
पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषितः।
महारथः सत्यधनस्य मानसं
दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः ॥३४॥

अन्वयः—लोहितचन्दनोचितः महारथः रेणुरूषितः पदातिः अन्तर्गिरि परिभ्रमन् अयं वृकोदरः सत्यधनस्य (तव) मानसं नो दुनोति कच्चित्?

व्याख्या—लोहितचन्दनोचितः उचितलोहितचन्दनः, अभ्यस्त-रक्तचन्दन इत्यर्थः। महारथो रथचारी। उभयत्रापि प्रागिति शेषः। अद्य तु रेणुरूषितो धूलिच्छुरितः पादाभ्यामतति गच्छतीति पदातिः पाद-चारी अन्तर्गिरि गिरिष्वन्तः परिभ्रमन्नयं वृकोदरो भीमः सत्यधनस्य तव मानसं नो दुनोति कच्चित्? न परितापयति किम्?

वाच्यपरिवर्त्तनम्—लोहितचन्दनोचितेन महारथेन रेणुरूषितेन पदातिना अन्तर्गिरि परिभ्रमता अनेन वृकोदरेण सत्यधनेन (तव) मानसं न दूयते कच्चित्?

व्याकरणम्—लोहितचन्दनोचितः—लोहितं चन्दनम् लोहित-चन्दनम् (कर्म०), उचितं लोहितचन्दनम् अस्येति उचितलोहित-

चन्दनः। यहाँ पर 'वाहिताग्न्यादिषु' इस सूत्र से 'उचित' (निष्ठान्त) शब्द का विकल्प से पूर्वनिपात होगा; अतः दोनों रूप मिलेंगे – (१) उचितलोहितचन्दनः, (२) लोहितचन्दनोचितः।

महारथः—महान् रथो यस्य (बहु०) सः।

रेणुरूषितः—रेणुभिः रूषितः (तृ० तत्पु०);

अन्तर्गिरि—गिरिषु। विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः—'अव्ययं विभक्ति' —इत्यादिना।

वृकोदरः—वृकस्य उदरं वृकोदरम्; वृकोदरमिव उदरमस्येति वृकोदरः।

सत्यधनस्य—सत्यमेव धनं यस्य सः सत्यधनः (बहु०) तस्य।

दुनोति—दु (५म गण) लट् प्र० एक०।

विशेष—सत्यधनस्य—व्यंग्यपूर्ण वचन है। अब भी आप सत्य की ही रक्षा कर रहे हो, भाइयों की नहीं।

हिन्दी—यह भीम जो पहले रक्तचन्दन से अपना अङ्गलेप करते थे, रथ पर चढ़कर घूमते थे; अब वही धूल से मलिन होकर पैदल पर्वतों पर घूमते हुए क्या सत्य के पुजारी आपके मन को सन्तप्त करते नहीं? ॥३४॥

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरा-
न्कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
स वल्कवासांसि तवाधुनाऽऽहरन्
करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः ॥३५॥

अन्वयः—वासवोपमः यः धनञ्जयः उत्तरान् कुरून् विजित्य प्राज्यम् अकुप्यं वसु अयच्छत् स धनञ्जयः अधुना तव वल्कवासांसि आहरन् कथं तव मन्युं न करोति?

व्याख्या—वासव इन्द्र उपमा उपमानं यस्य स वासवोपमः इन्द्रतुल्यो यो धनञ्जयः उत्तरान् कुरून् मेरोरुत्तरान् मानुषान् देशविशेषान् विजित्य प्राज्यं प्रभूतम्। कुप्यादन्यदकुप्यं हेमरूप्यात्मकं वसु धनम् अयच्छद् दत्तवान्। स धनं जयतीति धनञ्जयोऽर्जुनः अधुनाऽस्मिन् काले तव वल्कवासांस्याहरन् कथं मन्युं क्रोधं दुःखं वा न करोति ?

वाच्यपरिवर्त्तनम्—वासवोपमेन येन धनञ्जयेन उत्तरान् कुरून् विजित्य प्राज्यम् अकुप्यं वसु अदीयत तेन धनञ्जयेन अधुना तव वल्कवासांसि आहरता कथं तव मन्युः न क्रियते ?

व्याकरणम्—वासवोपमः—वासवः उपमा यस्य (बहु०) सः। धनञ्जयः—धनं जयतीति (उपपदतत्पु०) सः। उत्तरान् कुरून्—मेरोरुत्तरान् देशविशेषान्—मल्लिनाथ।

प्राज्यम्—प्रकर्षेण अज्यते (काम्यते) इति (प्रादि०) तत्।

अकुप्यम्—गुप्यते रक्ष्यते इति अगुप्यम्=अकुप्यम् निपातन से गकार को ककारादेश हुआ है।

वल्कवासांसि—वल्कान्येव वासांसि (कर्म०)।

विशेष—अकुप्यम्—सोना, चाँदी आदि धन। "अकुप्यं हेमरूप्यात्मकम्।" —मल्लिनाथ।

हिन्दी—इन्द्र के सदृश पराक्रमशाली जिस अर्जुन ने मेरु गिरि के उत्तरवर्त्ती कुरुदेशों को जीतकर आपको प्रचुर सुवर्ण-रजतात्मक धनराशि लाकर समर्पित की थी, आज वह अर्जुन वल्कल-वस्त्र लाकर समर्पित करते हुए आपके क्रोध को कैसे जाग्रत नहीं करते ? ॥३५॥

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती
कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ
विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम् ॥३६॥

अन्वयः—वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती विष्वक् कचाचितौ अगजौ गजौ इव एतौ यमौ विलोकयन् त्वं कथं धृतिसंयमौ बाधितुं न उत्सहसे ?

व्याख्या—वनान्तो वनभूमिरेव शय्या तया कठिनीकृताकृती कठिनीकृतदेहौ विष्वक् समन्तात् कचाचितौ कचव्याप्तौ विकीर्णकेशावित्यर्थः। अतएव अगजौ गिरिसम्भवौ गजाविव स्थितावेतौ यमौ युग्मजातौ माद्रीपुत्रावित्यर्थः। विलोकयंस्त्वं कथं धृतिसंयमौ सन्तोषनियमौ बाधितुं न उत्सहसे न प्रवर्त्तसे ! अहो ते महद् धैर्यमिति भावः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती विष्वक् कचाचितौ अगजौ गजौ इव एतौ यमौ विलोकयता त्वया कथं धृतिसंयमौ बाधितुं न उत्सह्यते ?

व्याकरणम्—वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती—वनस्य अन्तः (ष० तत्पु०) वनान्तः; वनान्त एव शय्या (कर्म०) इति वनान्तशय्या; अकठिना कठिना कृता इति कठिनीकृता (अभूततद्भावे च्विः); वनान्तशय्यया कठिनीकृता आकृतिः ययोः (बहु०) तौ। कचाचितौ—कचैः (=केशैः) आचितौ (तृ० तत्पु०)। अगजौ—अगे (पर्वते) जातौ। धृतिसंयमौ—धृतिश्च संयमश्चेति (द्वन्द्व) तौ।

विशेष—विष्वक—समन्तात्। अव्यय है।

विशेष—विष्वक्—समन्तात्। अव्यय है। अगजौ—न गच्छतीति अगः (पर्वतः); अगे (पर्वते) जातौ। अग=नग। यमौ=सहजातौ।

मल्लिनाथ ने इस पद्य का भाव इस प्रकार कहा है—"अहो ते महद् धैर्यम्"। यह व्यंग्य वाक्य है। आपका यह धैर्य कैसे उचित माना जा सकता है?

हिन्दी—वनस्थली पर शयन से जिनका शरीर कठिन हो गया है, जिनके केश इधर-उधर बिखरे हुए हैं, पर्वतीय गजों के सदृश महान् आकारवाले इन दोनों सहजात नकुल और सहदेव को देखकर क्या आप धैर्य और संयम को त्यागने के लिए तैयार नहीं हैं?॥३६॥

इमामहं वेद न तावकीं धियं
विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः।
विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां
रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः॥३७॥

अन्वयः—इमां तावकीं धियम् अहं न वेद। चित्तवृत्तयः विचित्ररूपाः खलु। परां भवदापदं विचिन्तयन्त्याः मम चेतः आधयः प्रसभं रुजन्ति।

व्याख्या—इमां वर्त्तमानां तवेमां तावकीं त्वदीयाम्। धियं त्वदापद्विषयां चित्तवृत्तिमहं न वेद कीदृशी वा न वेद्मि। परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वादिति भावः। चित्तवृत्तयो विचित्ररूपा धीराधीराद्यनेक प्रकाराः खलु। किन्तु परामुत्कृष्टां भवदापदं विचिन्तयन्त्या भावयन्त्या मम चेतश्चित्तम् आधयो मनोव्यथाः प्रसभं प्रसह्य रुजन्ति भञ्जन्ति। पश्यतामपि दुस्सहा दुःखजननी त्वद्विपत्तिरनुभवितारं त्वां न विकरोतीति महच्चित्रमित्यर्थः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—इयं तावकी धीः मया न विद्यते। चित्तवृत्तिभिः विविधरूपाभिः खलु (भूयते)। परां भवदापदं विचिन्तयन्त्याः मम चेतः आधिभिः प्रसभं रुज्यते।

व्याकरणम्—तावकीम्—युष्मद् + अण् + ङीप्, द्वती० एक०। युष्मद् के स्थान में "तवक' आदेश होता है। 'तवकममकावेकवचने।' चित्तवृत्तयः—चित्तस्य वृत्तिः (ष० तत्पु०) चित्तवृत्तिः, ताः। विचित्ररूपाः—विशेषेण चित्राः विचित्राः (प्रादि तत्पु०); विचित्रा + रूपप्; प्रशंसा के अर्थ में रूपप् प्रत्यय हुआ है। पुंवद्भाव से 'विचित्र' बना।

विशेष—'चित्तवृत्तयः विचित्ररूपाः।' इसका समानार्थक वाक्य—'भिन्नरुचिर्हि लोकः।'

हिन्दी—आपके ये शान्ति-विचार मेरी समझ में नहीं आते। निश्चित ही लोगों की विचारधाराएँ विलक्षण होती हैं। आपकी इन घोर आपत्तियों को देखकर मानसी व्यथाएँ मेरे मन पर प्रबल आघात पहुँचाती हैं ॥३७॥

पुराधिरूढः शयनं महाधनं
विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं
जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः ॥३८॥

अन्वयः—यः महाधनं शयनम् अधिरूढः स्तुतिगीतिमङ्गलैः विबोध्यसे सः (त्वम्) अदभ्रदर्भां स्थलीम् अधिशय्य अशिवैः शिवारुतैः निद्रां जहासि।

व्याख्या—यः त्वं महाधनं बहुमूल्यं श्रेष्ठं शयनं शय्यामधिरूढः सन् स्तुतयो गीतयश्च ता एव मङ्गलानि तैः करणभूतैः पुरा

विबोध्यसे वैतालिकैरितिशेषः। पूर्वं बोधित इत्यर्थः। स त्वम् अदभ्रदर्भां बहुकुशाम् अधिशय्य शयित्वा अशिवैः अमङ्गलैः शिवारुतैः क्रोष्टुवासितैः निद्रां जहासि। अद्येति शेषः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—यं महाधनं शयनम् अधिरूढं स्तुतिगीतिमङ्गलैः (चारणाः) विबोधयन्ति तेन (त्वया) अदभ्रदर्भां स्थलीम् अधिशय्य अशिवैः शिवारुतैः निद्रा हीयते।

व्याकरणम्—महाधनम्—महत् धनं यस्य (बहु०) तत्। शयनम्—शय्यतेऽस्मिन्निति अधिकरणे ल्युट्। अधिरूढः—अधि+रुह्+क्त। स्तुतिगीतिमङ्गलैः--स्तुतयश्च गीतयश्चेति (द्वन्द्व) स्तुतिगीतयः, स्तुतिगीतय एव मङ्गलानि (कर्मधारय) तैः। विबोध्यसे—वि+बुध्+णिच् (कर्मणि) म० एक०। अदभ्रदर्भाम्—अदभ्राः दर्भाः यस्याम् (बहु०)। अधिशय्य—अधि+शी+क्त्वा (=ल्यप्)। अशिवैः—न शिवानि=अशिवानि तैः। शिवारुतैः—शिवायाः रुतम् (ष० तत्पु०); शिवानां रुतानि=शिवारुतानि, तैः।

जहासि—हा—वर्त्तमानकाल, म० एक०।

विशेष—विभिन्न दशाओं के वर्णन द्वारा युधिष्ठिर को युद्ध के लिए उत्तेजित किया है।

हिन्दी—बहुमूल्य शय्या पर सोये हुए आप पहले स्तुति और गीत के मंगल-पाठ से निद्रा का त्याग करते थे, अब आप बहुकुशा भूमि पर शयन करते हुए शृगालियों के अमंगलमय शब्दों से नींद का त्याग करते हैं ॥३८॥

पुरोपनीतं नृप! रामणीयकं
द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा।
तदद्यते वन्यफलाशिनः परं
परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः ॥३९॥

अन्वयः—नृप ! यदेतत् वपुः पुरा द्विजातिशेषेण अन्धसा रामणीयकम् उपनीतम् अद्य वन्यफलाशिनः ते तद् वपुः यशसा समं परं कार्श्यं परैति।

व्याख्या—हे नृप ! यदेतत् पुरोवर्ति वपुः पुरा द्विजातिशेषेण द्विजभुक्तावशिष्टेनान्धसाऽन्नेन रमणीयस्य भावो रामणीयकं मनोहरत्वम् उपनीतं प्रापितम्। अद्य वन्यफलाशिनः ते तव तद् वपुः यशसा समं परम् अतिमात्रं कार्श्यं परैति प्राप्नोति। उभयमपि क्षीयत इत्यर्थः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—नृप ! यदेतत् वपुः पुरा द्विजातिशेषम् अन्धः रामणीयकम् उपनीतवत् अद्य वन्यफलाशिनः ते तेन वपुषा यशसा समं परं कार्श्यं परेयते।

व्याकरणम्—द्विजातिशेषेण—द्वे जाती येषां (बहु०) ते द्विजातयः, द्विजातीनां शेषः (ष० तत्पु०) द्विजातिशेषः तेन। अन्धस्—अन्न। अन्धसा=अन्नेन, अन्न के द्वारा। रामणीयकम्—रम् + णिच् + अनीय = रमणीय; रमणीयस्य भावः—रमणीय + वुञ् = 'युवोरनाकौ' इससे 'वु' को 'अक', 'अतो लोपः', रामणीयकम्। वन्यफलाशिनः—वने भवं वन्यम्, वन्यं फलं वन्यफलम् (कर्म०), वन्यफलम् अश्नातीति वन्यफलाशी (उपपद तत्पु०) तस्य।

कार्श्यम्—कृशस्य भावः कार्श्यम्; कृश् + ष्यञ्।

परैति—परा + इ लट्, प्र० एक०।

विशेष—यहाँ पर शरीर की रमणीयता का शरीर की कृशता से वैषम्य प्रदर्शित किया है।

सहोक्ति अलङ्कार। शरीर यश के साथ क्षीण होता जा रहा है। "सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलोदकं द्विवाचकम्।"

द्विजातिशेषेण—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये द्विजाति कहलाते

हैं। संस्कारों से दूसरा जन्म होता है। 'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैर्द्विज उच्यते।'

हिन्दी—राजन्! जो पहले ब्राह्मणों के भोजन कर लेने के उपरान्त बचे हुए अन्न से सौन्दर्य को पाया था, आज वन्य फलों के आहार पर निर्भर आपका वह शरीर यश के साथ अत्यन्त क्षीण हो रहा है ॥३९॥

अनारतं यौ मणिपीठशायिना—
वरञ्जयद्राजशिरःस्रजां रजः।
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते
मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—अनारतं मणिपीठशायिनौ यौ राजशिरःस्रजां रजः अरञ्जयत् तौ चरणौ मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषां वनेषु निषीदतः।

व्याख्या— अनारतम् अजस्रं मणिपीठशायिनौ मणिमय—पादपीठशायिनौ यौ चरणौ राजशिरःस्रजां रजः अरञ्जयत् तौ ते चरणौ मृगैः द्विजैश्च तपस्विभिः आलूनशिखाग्रेषु छिन्नाग्रेषु बर्हिषां कुशानां वनेषु निषीदतः तिष्ठतः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्— अनारतं मणिपीठशायिनौ यौ राजशिरःस्रजां रजसा अरज्येताम्, ताभ्यां चरणाभ्यां मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषां वनेषु निषद्यते।

व्याकरणम्— मणिपीठशायिनौ— मणिनिर्मितं पीठम् (मध्यमपदलोपिकर्मधारय); मणिपीठम्; मणिपीठे शयाते इति तौ। राजशिरःस्रजाम् —राज्ञां शिरः (ष० तत्पु०) राजशिरः, राजशिरसः स्रजः (ष० तत्पु०) तासाम्। अरञ्जयत्— रञ्ज् + णिच् + लङ्, प्र० एक०। मृगद्विजालूनशिखेषु— द्विः जाता इति द्विजाः; मृगाश्च द्विजाश्चेति मृगद्विजाः (द्वन्द्व);

मृगद्विजैः आलूनाः (तृ० तत्पु०), इति मृगद्विजालूनाः, मृगद्विजालूनाः शिखा येषु (बहु०) ते, तेषु। निषीदतः— नि+सद् लट् प्र० द्वि०।

विशेष— परिवर्त्तित दशा के वर्णन द्वारा युधिष्ठिर को युद्ध के लिए उत्तेजित किया है।

हिन्दी— राजाओं की मौलिमालाओं का पुष्पपराग रत्न-निर्मित पादपीठ पर निहित जिन चरणों को रञ्जित करता था, वे चरण अब हरिणों और ब्राह्मणों के द्वारा छिन्न कुशोंवाले वनों में विश्राम पाते हैं॥ ४०॥

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः
समूलमुन्मूलयतीव मे मनः।
परैरपर्यासित वीर्यसम्पदां
पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम्॥४१॥

अन्वयः—यत् इयं दशा द्विषन्निमित्ता ततः मे मनः समूलम् उन्मूलयतीव। परैः अपर्यासित वीर्यसम्पदां मानिनां पराभवः अपि उत्सवः एव।

व्याख्या—यद् यतः कारणाद् इयं दशाऽवस्था द्विषन्तो निमित्तं यस्याः सा, अतो मे मनः समूलं साशयम् उन्मूलयतीव उत्पाटयतीव। दैवी त्वापन्न दुःखायेत्याहपरैरिति। परैः शत्रुभिरपर्यासिताऽपर्यावर्त्तिता वीर्यसम्पद् येषां तेषां मानिनां मानहानिदुस्सहा, न त्वापदिति भावः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—यदनया दशया द्विषन्निमित्तया (भूयते) ततः मे मनः समूलम् उन्मूल्यते इव। परैः अपर्यासितवीर्यसम्पदां मानिनां पराभवेन अपि उत्सवेन (भूयते)।

व्याकरणम्—द्विषन्निमित्ताः—द्विषन्तः निमित्तं यस्याः (बहु०) सा। समूलम् - मूलेन सह वर्त्तते इति (बहु०)। उन्मूलयति—उद्+

मूल + णिच् + लट् प्र० एक०। अपर्यासित वीर्यसम्पदाम्—न पर्यासिता (नञ् तत्पु०) अपर्यासिता, अपर्यासिता वीर्यसम्पद् येषां ते, (बहु०) तेषाम्। मानिनाम्—मानोऽस्यास्तीति मानी, तेषाम्।

विशेष—अर्थान्तरन्यासः। मानहानि असह्य होती है, विपत्ति असह्य नहीं होती। राजा लोग वीर रस के आश्रय से सफलता को पाते हैं। मुनि लोग शान्तता से मुक्तिलाभ करते हैं। मुनियों के लिए वीरता उपयुक्त नहीं; राजाओं के लिए शान्तता उपयुक्त नहीं।

हिन्दी—आपकी जो यह दशा शत्रु के कारण हुई है, वह मेरे अन्तःकरण को मानों मूल से उखाड़ रही है। जिनके बल और पराक्रम को शत्रु भी तिरस्कृत नहीं कर सकते, ऐसे मानियों का पराभव भी उत्साहवर्द्धक ही होता है ॥४१॥

विहाय शान्तिं नृप ! धाम तत्पुनः
प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निस्स्पृहाः
शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ॥४२॥

अन्वयः—नृप ! शान्तिं विहाय तत् धाम विद्विषां वधाय पुनः सन्धेहि प्रसीद। निस्स्पृहाः मुनयः शत्रून् अवधूय शमेन सिद्धिं व्रजन्ति, भूभृतः न।

व्याख्या—हे नृप ! शान्तिं विहाय तत् प्रसिद्धं धाम तेजो विद्विषां वधाय पुनः सन्धेहि अङ्गीकुरु प्रसीद। ननु शमेन कार्यसिद्धौ किं क्रोधेनेत्यत्राह—व्रजन्तीति। निस्स्पृहाः मुनयः शत्रून् अवधूय निर्जित्य शमेन क्रोधवर्जनेन सिद्धिं व्रजन्ति, भूभृतस्तु न। कैवल्यकार्यवद् राजकार्यं न शान्तिसाध्यमित्यर्थः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—नृप ! शान्तिं विहाय तद् धाम विद्विषां

वधाय पुनः सन्धीयताम्, प्रसद्यताम्। निस्स्पृहैः मुनिभिः शत्रून् अवधूय शमेन सिद्धिः व्रज्यते, भूभृद्भिः न।

व्याकरणम्—विहाय—वि+हा+क्त्वा (=ल्यप्)। सन्धेहि—सम्+धा+लोट्, म० एक; लगाओ।

निस्स्पृहाः—निरस्ता स्पृहा येषां (बहु०) ते। अवधूय—अव+धू+क्त्वा (=ल्यप्)।

विशेष—शान्तिकार्य मुनियों के लिए हितकर होता है, राजाओं के लिए नहीं।

सिद्धिः=(१) कार्यनिष्पत्तिः, (२) मोक्ष।

हिन्दी—महाराज! आप शान्ति को त्यागकर अपने पहले तेज का प्रयोग शत्रुओं का विनाश करने में कीजिए। निस्स्पृह मुनि लोग ही शान्ति के द्वारा शत्रुओं को जीत कर सफलता को पाते हैं, न कि राजा लोग ॥४२॥

पुरस्सरा धामवतां यशोधनाः
सुदुस्सहं प्राप्य निकारमीदृशम्।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं
निराश्रया हन्त हता मनस्विता ॥४३॥

अन्वयः—धामवतां पुरस्सराः यशोधनाः भवादृशाः सुदुस्सहम् ईदृशं निकारं प्राप्य रतिम् अधिकुर्वते चेत् हन्त मनस्विता निराश्रया हता।

व्याख्या—किञ्च धामवतां तेजस्विनाम्। पर निकारासहिष्णूनामित्यर्थः। पुरः सरन्तीति पुरस्सरा अग्रेसराः यशोधना भवादृशाः सुदुःसहम् अति दुस्सहम् ईदृशम् उक्तप्रकारं निकारं पराभवं प्राप्य रतिं सन्तोषम् अधिकुर्वते चेत् तर्हि हन्त इति खेदे मनस्विताऽभिमानिता

निराश्रया सती हता तेजस्विजनैक शरणत्वान्मनस्वितायाः इत्यर्थः। अतः पराक्रमितव्यमिति भावः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—धामवतां पुरस्सरैः यशोधनैः भवादृशैः सुदुस्सहम् ईदृशं निकारं प्राप्य रतिः अधिक्रियते चेत् हन्त निराश्रयया मनस्वितया (भूयते)।

व्याकरणम्—धाम अस्यास्तीति धामवान् तेषाम्। पुरस्सराः—पुरः सरन्तीति, अग्रगामी। यशोधनाः—यश एव धनं येषां (बहु०) ते। सुदुस्सहम्—अतिशयेन दुस्सहम्। निरकारम्—नि+कृ+घञ्, अपमान। प्राप्य—प्र+आप्+क्त्वा (ल्यप्)। अधिकुर्वते—अधि+कृ (आत्म०) लट् प्र० बहु०। मनस्विता—प्रशस्तं मनः येषाम्—मनस्+विनि (मत्वर्थे), ते मनस्विनः, तेषां भावः मनस्विता—महानुभावता।

हिन्दी—कीर्त्ति को ही धन माननेवाले तथा तेजस्वियों में अग्रसर आप-जैसे व्यक्ति इस प्रकार के अति दुस्सह पराभव को पाकर यदि सन्तोष कर लेते हैं तब हा! स्वात्माभिमान निरालम्ब होकर नष्ट हो जायगा ॥४३॥

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रम-
श्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम्।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं
जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम् ॥४४॥

अन्वयः— अथ निरस्तविक्रमः चिराय क्षमाम् एव सुखस्य साधनं पर्येषि, लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं विहाय जटाधरः सन् इह पावकं जुहुधि।

व्याख्या— अथ पक्षान्तरे निरस्तविक्रमः सन् चिराय चिरकालेनापि क्षमां क्षान्तिमेव सुखस्य साधनं पर्येष्यवगच्छसि तर्हि लक्ष्मीपति-

लक्ष्म राजचिह्नं कार्मुकं विहाय जटानां धरो जटाधरः सन्निह वने पावकं जुहुधि। पावके होमं कुर्वित्यर्थः। विरक्तस्य किं धनुषेत्यर्थः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—अथ निरस्तविक्रमेण (त्वया) चिराय क्षमा एव सुखस्य साधनं परीयते, लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं विहाय जटाधरेण सता इह पावकः हूयताम्।

व्याकरणम्— निरस्तविक्रमः—निरस्तः विक्रमः येन (बहु०) सः। पर्येषि—परि+इ, लट् म० एक०। लक्ष्मीपतिलक्ष्म—लक्ष्म्याः पतिः (ष० तत्पु०), लक्ष्मीपतेः लक्ष्म (ष० तत्पु०)। जुहुधि—हु—लोट् म० एक०।

विशेष—"यदि तुम क्षमा को ही सुख का साधन मानते हो तब तुम राजचिह्न-स्वरूप धनुष को त्यागकर अग्नि में आहुति देते हुए विशुद्ध विरक्त जीवन व्यतीत करो। विरक्त व्यक्ति को धनुर्ग्रहण से क्या प्रयोजन?"—भावार्थ।

हिन्दी— यदि शौर्य को तिलांजलि देकर चिरकाल क्षमा को ही तुम सुख का साधन मानते हो तब राजा के चिह्नस्वरूप धनुष को त्यागकर और जटा बढ़ाकर यहीं बैठकर अग्नि में आहुति डालते रहो॥ ४४॥

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते
निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशाः
विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि ॥४५॥

अन्वयः— परेषु निकृतिपरेषु भूरिधाम्नः ते समयपरिरक्षणं न क्षमम्। हि विजयार्थिनः क्षितीशाः अरिषु सोपधि सन्धिदूषणानि विदधति।

व्याख्या— परेषु शत्रुषु निकृतिः परं प्रधानं येषु तेषु । तथोक्तेष्वपकारतत्परेषु सत्सु भूरिधाम्नो महौजसः प्रतीकारक्षमस्य ते तव समयः त्रयोदशसंवत्सरान् वने वत्स्यामीत्येवंरूपा संवित् तस्य परिरक्षणं प्रतीक्षणं न क्षमं न युक्तम् । हि यस्माद् विजयार्थिनो विजिगीषवः क्षितीशा अरिषु विषये सोपधि सकपटं यथा तथा सन्धिदूषणानि विदधति केनचिद् व्याजेन दोषमापाद्य सन्धिं दूषयन्ति विघटयन्तीत्यर्थः । शक्तस्य हि विजिगीषोः सर्वथा कार्यसाधनं प्रधानमन्यत्समयरक्षणादिकमशक्तस्येतिभावः ।

वाच्यपरिवर्त्तनम्— परेषु निकृतिपरेषु भूरिधाम्नः ते समय परिरक्षणेन न क्षमेण (भूयते) । हि विजयार्थिभिः क्षितीशैः अरिषु सोपधि सन्धिदूषणानि विधीयन्ते ।

व्याकरणम्— परेषु—विषयसप्तमी; परः शत्रुः तेषु । निकृतिपरेषु—निकृति—अपमान, निकृतिपर—अपकार-तत्पर । निकृतिः परं येषां (बहु०) ते निकृतिपराः, तेषु । भावलक्षणां (=सति) सप्तमी ।
भूरिधाम्नः— भूरि धाम यस्य (बहु०) स भूरिधामा, तस्य ।
समयपरिरक्षणम्—समयस्य परिरक्षणम् (ष० तत्पु०); समय—तेरह वर्ष वन में रहने की प्रतिज्ञा । न क्षमम्— उचित नहीं ।
विजयार्थिनः— विजयम् अर्थयन्ते इति (उपपदतत्पु०) ते ।
क्षितीशाः— क्षितेः ईशाः (ष० तत्पु०) ।
सोपधि— उपधिना सह वर्त्तते (बहु०) इति सोपधि = सकपटम् ।
सन्धिदूषणानि— सन्धेः दूषणानि (ष० तत्पु०) ।
विदधति— वि + धा (=दध्) लट् प्र० बहु० ।

विशेष— विजिगीषु राजा शत्रु के साथ की गई सन्धि का शत्रु के द्वारा भंग बतलाकर स्वयं सन्धि का परिपालन नहीं करते । अशक्त मनुष्य ही सन्धि का परिपालन करता है, राजा नहीं करता ।

हिन्दी—जबकि शत्रु अपकार करने पर तुला हुआ है तब प्रचुर पराक्रमशाली आपको कालावधि समाप्ति की प्रतीक्षा करना उचित नहीं। विजय के इच्छुक नरपाल किसी-न-किसी बहाने शत्रु के साथ की हुई संधियों का शत्रु द्वारा परिपालन न करने में दोष निकालते हैं ॥ ४५ ॥

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः ॥४६॥

अन्वयः—विधिसमयनियोगात् अगाधे आपत्पयोधौ मग्नं दीप्तिसंहारजिह्मं शिथिलवसुं रिपुतिमिरम् उदस्य उदीयमानं त्वां दिनादौ दिनकृतम् इव लक्ष्मीः भूयः समभ्येतु।

व्याख्या—विधिर्दैवम्, समयः कालः, तयोः नियोगान्नियमनाद् हेतोः तयोर्दुरतिक्रमत्वादिति भावः। अगाधे दुस्तरे। आपत् पयोधिरिवेत्युपमितसमासः। दिनकृतमिवेति वक्ष्यमाणानुसारात् तस्मिन् आपत्पयोधौ मग्नम् "सूर्योऽपि सायं सागरे मज्जति परेद्युरुन्मज्जती-त्यागमः। दीप्तिः प्रताप आतपश्च तस्याः संहारेण जिह्मम् अप्रसन्नम्, शिथिलवसुम् शिथिलधनम्, अन्यत्र शिथिलरश्मिम्, रिपुस्तिमिरमिवेति रिपुतिमिरमुदस्य निरस्य उदीयमानम् उद्यन्तं त्वां दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीः भूयः समभ्येतु भजतु। मालिनीवृत्तम्—सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः।

वाच्यपरिवर्त्तनम्—विधिसमयनियोगात् अगाधे आपत्पयोधौ मग्नः दीप्तिसंहारजिह्मः शिथिलवसुः रिपुतिमिरम् उदस्य उदीयमानः त्वं दिनादौ दिनकृत् इव लक्ष्म्या भूयः समीयस्व।

विधिसमयनियोगात्—विधिश्च समयश्चेति विधिसमयौ (द्वन्द्व), विधिसमययोः नियोगः (ष० तत्पु०) तस्मात्। दैव और काल के अनतिक्रमणीय होने के कारण। आपत्पयोधौ—आपत् पयोधिरिव (उपमित कर्म०) तस्मिन्।

दीप्तिसंहारजिह्मम्—दीप्तेः संहारः (तृ० तत्पु०)। दीप्तिसंहारः, दीप्तिसंहारेण जिह्मः (तृ० तत्पु०) शिथिलवसुम्—शिथिलं वसु यस्य (बहु०) तम्। रिपुतिमिरम्—रिपुः तिमिरम् इव (उपमितसमासः)। उदस्य—उद् + अस् + क्त्वा = ल्यप्। दिनादौ—दिनस्य आदिः = दिनादिः (ष० तत्पु०) तस्मिन्। दिनकृतम्—दिनं करोतीति दिनकृत् (उपपद तत्पु०) तम्। समभ्येतु—सम् + अभि + इ लोट् प्र० एक०।

विशेष—परिकर अलंकार। विशेषण श्लिष्ट और साभिप्राय हैं।

"दिन के आरंभ में जैसे सूर्य अन्धकार का विनाश करके पुनः अपनी अतीत शोभा को पा लेता है, वैसे ही तुम भी शत्रुस्वरूप अन्धकार का नाश करके अपनी अतीत राजलक्ष्मी को पाओ।"

यहाँ पर सर्ग के अन्त में भी 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है, जो कि मङ्गलसूचक है। प्रत्येक सर्ग के आदि और अन्त के पद्य में 'श्री' अथवा तदर्थवाचक 'लक्ष्मी' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

हिन्दी—दैव और काल की चक्रगति से प्रताप के नाश होने के कारण विवर्ण एवं दरिद्रीभूत तथा अथाह विपत्ति के समुद्र में मग्न और अन्धकार सदृश शत्रुओं का नाश करके भाग्योदय के प्रथम चरण में वर्त्तमान आपको राजलक्ष्मी उसी प्रकार पुनः प्राप्त हो, जैसे कि उस सूर्यदेव को, जो भाग्य एवं समय की गतिविधि से आतप के विनष्ट होने के कारण मन्दरश्मि, प्रभारहित और निस्तेजस्क होकर सायं विपत्सागर में डूब गये थे, दिन के आरम्भ में शत्रुरूपी अन्धकार को समूल नष्ट करके उदय होते हुए शोभा प्राप्त होती है ॥४६॥

प्रथम सर्ग समाप्त

—:o:—

१.२५
.३०
१.५५

२.००
५.००
७.००

२.५०